सिराजुद्दीन ईसाई के चार सवालों का जवाब

लेखक
हज़रत मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद क़ादियानी
मसीह मौऊद व महदी माहूद अलैहिस्सलाम

नाम पुस्तक	:	सिराजुद्दीन ईसाई के चार सवालों का जवाब
Name of book	:	Sirajuddin Eisai ke Char Sawalon ka Jawab
लेखक	:	हज़रत मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद मसीह मौऊद अलैहिस्सलाम
Writer	:	Hazrat Mirza Ghulam Ahmad Qadiani Masih Mou'ud Alaihissalam
अनुवादक	:	डॉ अन्सार अहमद, पी एच. डी., आनर्स इन अरबिक
Translator	:	Dr Ansar Ahmad, Ph. D, Hons in Arabic
प्रथम संस्करण	:	(हिन्दी) जुलाई 2012 ई०
द्वितीय संस्करण	:	(हिन्दी) अगस्त 2018 ई०
संख्या, Quantity	:	1000
प्रकाशक	:	नज़ारत नश्र-व-इशाअत, क़ादियान, 143516 ज़िला-गुरदासपुर (पंजाब)
Publisher	:	Nazarat Nashr-o-Isha'at, Qadian, 143516 Distt. Gurdaspur, (Punjab)
मुद्रक	:	फ़ज़्ले उमर प्रिंटिंग प्रेस, क़ादियान, 143516 ज़िला-गुरदासपुर (पंजाब)
Printed at	:	Fazl-e-Umar Printing Press, Qadian, 143516 Distt. Gurdaspur (Punjab)

ISBN - 978-81-7912-367-6

प्रकाशक की ओर से

हज़रत मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद साहिब क़ादियानी मसीह मौऊद व महदी मा'हूद अलैहिस्सलाम द्वारा लिखित पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद श्री डॉ० अन्सार अहमद ने किया है और तत्पश्चात मुकर्रम शेख़ मुजाहिद अहमद शास्त्री (सदर रिव्यू कमेटी), मुकर्रम फ़रहत अहमद आचार्य (इंचार्ज हिन्दी डेस्क), मुकर्रम अली हसन एम. ए. और मुकर्रम नसीरुल हक़ आचार्य ने इसकी प्रूफ़ रीडिंग और रीवियु आदि किया है। अल्लाह तआला इन सब को उत्तम प्रतिफल प्रदान करे।

इस पुस्तक को हज़रत ख़लीफ़तुल मसीह ख़ामिस अय्यदहुल्लाहु तआला बिनस्रिहिल अज़ीज़ (जमाअत अहमदिया के वर्तमान ख़लीफ़ा) की अनुमति से हिन्दी प्रथम संस्करण के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

विनीत

हाफ़िज़ मख़दूम शरीफ़

नाज़िर नश्र व इशाअत क़ादियान

بِسۡمِ اللّٰہِ الرَّحۡمٰنِ الرَّحِیۡمِ
نَحۡمَدُہٗ وَ نُصَلِّیۡ عَلٰی رَسُوۡلِہِ الۡکَرِیۡمِ

सिराजुद्दीन नामक एक ईसाई सज्जन ने लाहौर से चार प्रश्न मेरी ओर उत्तर देने हेतु भिजवाए हैं। मैं उचित समझता हूँ कि जन हित में उनका उत्तर लिख कर प्रकाशित कर दूँ। अत: चारों प्रश्न उत्तर सहित निम्न लिखित हैं।

प्रश्न -1

ईसाई आस्थाओं के अनुसार मसीह का उद्देश्य इस संसार में मानवजाति के प्रेम के लिए आना और मानवजाति के लिए स्वयं को बलिदान कर देना था। क्या इस्लाम के संस्थापक का उद्देश्य इन दोनों अर्थों में सिद्ध हो सकता है अथवा नहीं? या प्रेम और बलिदान के अतिरिक्त अन्य किन्हीं उत्तम शब्दों में इस कार्य को स्पष्ट कर सकते हैं?

उत्तर : स्पष्ट हो कि इस प्रश्न से प्रश्नकर्त्ता का मूल उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार ईसाइयों के विचार के अनुसार संसार में यसू मसीह इसलिए आया था कि पापियों से प्रेम करके उनके पापों का अभिशाप अपने सर पर ले और फिर उन्हीं पापों के कारण मारा जाए। क्या इस अभिशप्त बलिदान का कोई उदाहरण पापियों के मोक्ष के लिए क़ुर्आन भी प्रस्तुत करता है अथवा नहीं? यदि प्रस्तुत नहीं करता तो क्या क़ुर्आन ने मनुष्यों के मोक्ष के लिए इस से उत्तम मार्ग प्रस्तुत किया है? अत: इसके उत्तर में मियाँ सिराजुद्दीन साहिब को ज्ञात हो कि क़ुर्आन कोई अभिशप्त बलिदान प्रस्तुत नहीं करता, अपितु कदापि उचित नहीं

समझता कि किसी एक का पाप अथवा अभिशाप किसी दूसरे पर डाला जाए, कहाँ यह कि करोड़ों लोगों के अभिशाप एकत्र होकर एक के गले में डाल दिए जाएं। क़ुर्आन करीम स्पष्ट रूप से फ़रमाता है :

لَا تَزِرُ وَازِرَةٌ وِّزْرَ اُخْرٰي[1]

अर्थात एक का बोझ दूसरा नहीं उठाएगा।

परन्तु मोक्ष के सम्बन्ध में क़ुर्आनी मार्गदर्शन का वर्णन करने से पूर्व मैं उचित समझता हूँ कि ईसाइयों के इस सिद्धान्त का दोष लोगों पर स्पष्ट कर दूँ ताकि वह व्यक्ति जो इस सम्बन्ध में क़ुर्आन और इंजील में तुलना करना चाहता है वह सुगमता से तुलना कर सके।

अत: स्पष्ट हो कि ईसाइयों का यह सिद्धान्त कि ख़ुदा ने संसार से प्रेम करके संसार को मोक्ष प्रदान करने हेतु यह व्यवस्था की कि अवज्ञाकारियों, काफ़िरों और दुराचारियों का पाप अपने प्रिय पुत्र यसू पर डाल दिया और संसार को पाप से मुक्त कराने के लिए उसको अभिशप्त बनाया और अभिशाप की लकड़ी से लटकाया। यह सिद्धान्त प्रत्येक प्रकार से दोषपूर्ण और लज्जाजनक है। यदि **न्याय** की तुलना में इसे परखा जाए तो स्पष्ट रूप से यह बात अन्यायपूर्ण है कि 'ज़ैद' का पाप 'बकर' पर डाल दिया जाए। मनुष्य की अन्तरात्मा इस बात को कदापि पसंद नहीं करती कि एक अपराधी को छोड़ कर उस अपराधी का दण्ड किसी निरापराधी को दिया जाए। यदि आध्यात्मिक दर्शन की दृष्टि से पाप की वास्तविकता का अध्ययन किया जाए तो इस अन्वेषण की दृष्टि से भी यह आस्था दोषपूर्ण अथवा अशुद्ध सिद्ध होती है, क्योंकि पाप वास्तव में एक ऐसा विष है जो उस समय उत्पन्न होता है जब मनुष्य परमात्मा की आज्ञाकारिता और ख़ुदा के प्रबल प्रेम

1 बनी इस्राईल : 16

और ख़ुदा को प्रेमवश याद करने से वंचित हो। जैसे कि एक वृक्ष जब भूमि से उखड़ जाए और पानी चूसने के योग्य न रहे तो वह दिन प्रतिदिन शुष्क होने लगता है और उसकी समस्त हरियाली नष्ट हो जाती है। यही दशा उस मनुष्य की होती है जिसका हृदय ख़ुदा के प्रेम से उखड़ा हुआ होता है। अतः खुश्की की भांति पाप उस पर विजयी होता है। इस खुश्की का उपचार ख़ुदा की प्रकृति के नियम में तीन रूपों में है। (1) प्रेम (2) इस्तिग़फ़ार (पापों की क्षमायाचना करना) जिसका अर्थ है दबाने और ढांपने की इच्छा क्योंकि जब तक मिट्टी में वृक्ष की जड़ जमी रहे तब तक वह हरियाली का पात्र बना रहता है (3) तीसरा 'उपचार' तौबा है अर्थात जीवन का जल खींचने के लिए विनम्रता के साथ ख़ुदा की ओर मुख करना और फिर स्वयं को उसके निकट करना और पाप के आवरण से पुण्य कर्मों द्वारा स्वयं को बाहर निकालना और तौबा केवल कण्ठ से नहीं है अपितु तौबा की पूर्णता पुण्य कर्मों के साथ है। समस्त पुण्यकर्म तौबा की पूर्णता के लिए हैं क्योंकि सब का उद्देश्य यह है कि ख़ुदा के निकट हो जाएं। प्रार्थना भी तौबा है क्योंकि इस से भी हम ख़ुदा का सानिध्य ढूँढते हैं। इसीलिए परमात्मा ने मनुष्य के प्राण को उत्पन्न करके उसका नाम 'रूह' (आत्मा) रखा क्योंकि उसका वास्तविक सुख और आराम ख़ुदा को स्वीकार करने और उसके प्रेम और उसकी आज्ञाकारिता में है और उसका नाम 'नफ़्स'[1] रखा क्योंकि वह ख़ुदा से एकता उत्पन्न करने वाला है। परमात्मा से हृदय लगाना ऐसा होता है जैसा कि बाग़ में वह वृक्ष होता है जो बाग़ की भूमि से दृढ़ता पूर्वक जुड़ा होता है। यही मनुष्य का स्वर्ग है। जिस प्रकार वृक्ष धरती के पानी को चूसता और अपने अंदर

---

1 शब्दकोश के अनुसार नफ़्स का अर्थ वस्तु / चीज़ है। इसी से।

खींचता और उससे अपने विषैले वाष्प निकालता है, उसी प्रकार मनुष्य के हृदय की अवस्था होती है कि वह ख़ुदा के प्रेम का जल चूस कर विषैले तत्व निकालने की शक्ति प्राप्त करता है, बड़ी सरलता से उन तत्वों को दूर करता है और परमात्मा में लीन हो कर पवित्र वृद्धि प्राप्त करता जाता है, बहुत फैलता और मनोहर हरियाली दिखाता और अच्छे फल लाता है, परन्तु जो परमात्मा से नहीं जुड़ा, वह वृद्धि देने वाले जल को अवशोषित नहीं कर सकता, अतः क्षण प्रतिक्षण शुष्क होता चला जाता है। अन्ततः पत्ते भी गिर जाते हैं और शुष्क एवं कुरूप टहनियाँ रह जाती हैं, क्योंकि पाप की शुष्कता विमुखता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। अतः उस शुष्कता को दूर करने के लिए सीधा उपचार **सुदृढ़ सम्बन्ध** है, जिस पर प्रकृति का नियम गवाही देता है। इसी की ओर महाप्रतापी अल्लाह संकेत करके फ़रमाता है :

يٰۤاَيَّتُهَا النَّفۡسُ الۡمُطۡمَئِنَّةُ. ارۡجِعِىۡۤ اِلٰى رَبِّكِ رَاضِيَةً
مَّرۡضِيَّةً. فَادۡخُلِىۡ فِىۡ عِبٰدِىۡ. وَادۡخُلِىۡ جَنَّتِىۡ[1]

हे सन्तुष्ट आत्मा जो परमात्मा से शान्ति प्राप्त है, अपने रब्ब की ओर लौट आ। वह तुझ से राज़ी और तू उस से राज़ी। अतः मेरे भक्तों में शामिल हो जा और मेरे स्वर्ग के अन्दर आ।

अभिप्राय यह कि पाप को दूर करने का उपचार केवल ख़ुदा का प्रेम और अनुराग है। अतः वे समस्त पुण्य कर्म जो प्रेम और अनुराग के उद्गम से प्रस्फुटित होते हैं, पाप की अग्नि पर पानी छिड़कते हैं क्योंकि मनुष्य ख़ुदा के लिए पुण्य कर्म करके अपने प्रेम को प्रमाणित करता है। ख़ुदा को इस प्रकार से स्वीकार कर लेना कि उसको प्रत्येक वस्तु पर प्राथमिकता देना, यहाँ तक कि अपने प्राणों पर भी। यह प्रेम का

1 अल्-फ़ज्र : 28-31

वह प्रथम पद है जो वृक्ष की उस अवस्था के समान है जब वह धरती में लगाया जाता है। फिर दूसरा पद इस्तिग़फ़ार है जिस का अर्थ है कि ख़ुदा से अलग होकर मनुष्य के अस्तित्व का रहस्य न खुल जाए। यह पद वृक्ष की उस अवस्था के समान है जब वह बलपूर्वक पूर्ण रूप से अपनी जड़ भूमि में स्थापित कर लेता है। तीसरा पद 'तौबा' जो उस अवस्था के समान है कि जब वृक्ष अपनी जड़ें पानी के निकट कर के शिशु की भांति उसको चूसता है। अतः पाप की फ़्लास्फी यही है कि वह ख़ुदा से पृथक हो कर उत्पन्न होता है। अतः उसका निवारण ख़ुदा के सम्बन्ध से समबद्ध है। वे कितने अज्ञानी लोग हैं जो किसी की आत्महत्या को पाप का उपचार कहते हैं।

यह हास्यापद बात है कि कोई व्यक्ति दूसरे के सर दर्द पर दया करके अपने सर पर पत्थर मार ले या दूसरे को बचाने के विचार से आत्महत्या कर ले। मेरे विचार में संसार में कोई ऐसा बुद्धिमान नहीं होगा जो ऐसी आत्महत्या को मानव सहानुभूति से परिभाषित करे। निस्सन्देह मानव सहानुभूति एक उत्तम गुण है और दूसरों को बचाने के लिए कष्ट उठाना महावीरों का कार्य है, परन्तु उन कष्टों को उठाने का क्या यही मार्ग है जो यसू के सम्बन्ध में वर्णन किया जाता है। काश! यदि यसू आत्महत्या से स्वयं को बचाता और दूसरों के सुख के लिए यथोचित रूप से बुद्धिमानों की भांति कष्ट उठाता तो उसके व्यक्तित्व से संसार को लाभ पहुँच सकता था। उदाहरणतया यदि एक निर्धन व्यक्ति को घर की आवश्यकता है और वह राजमिस्त्री लगाने का सामर्थ्य नहीं रखता तो उस स्थिति में यदि एक राजमिस्त्री उस पर दया करके उस का घर निर्माण करने में व्यस्त हो जाए और बिना पारिश्रमिक लिए कुछ दिन अत्यन्त कष्ट उठा कर उस का घर बना दे तो निस्सन्देह यह राजमिस्त्री

प्रशंसनीय होगा। उसने निस्सन्देह एक दरिद्र पर उपकार भी किया है जिसका घर बना दिया परन्तु यदि वह व्यक्ति उस व्यक्ति पर दया करके अपने सर पर पत्थर मार ले तो उस निर्धन को इस से क्या लाभ पहुँचेगा। खेद कि संसार में बहुत कम लोग हैं जो पुण्य और दया करने के उचित मार्गों का अनुसरण करते हैं। यदि यह सत्य है कि यसू ने इस विचार से कि मेरे मरने से लोग मोक्ष प्राप्त कर लेंगे वास्तव में आत्महत्या की है। अत: यसू की दशा अत्यन्त दयनीय है और यह घटना प्रकट करने योग्य नहीं अपितु गुप्त रखने योग्य है।

और यदि हम ईसाइयों के इस सिद्धान्त को अभिशाप के अर्थों के सन्दर्भ में परखें जो मसीह के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया गया है तो अन्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस सिद्धान्त को स्थापित कर के ईसाइयों ने यसू मसीह का वह निरादर किया है जो संसार में किसी जाति ने अपने रसूल अथवा नबी का नहीं किया होगा। क्योंकि यसू का अभिशप्त हो जाना बेशक वह तीन दिन के लिए ही सही ईसाइयों की इस पर आस्था है और यदि यसू को अभिशप्त न बनाया जाए तो मसीही आस्था की दृष्टि से कफ़्फ़ारा और क़ुर्बानी इत्यादि सब झूठे हो जाते हैं अर्थात इस सम्पूर्ण आस्था का आधार अभिशाप ही है।

और ये बातें कि यसू मानवजाति के प्रेम हेतु संसार में भेजा गया और मानवजाति के लिए स्वयं को कुर्बान किया, ईसाइयों के विचार में इस शर्त के साथ लाभदायक हैं कि जब यह आस्था रखी जाए कि प्रथम यसू संसार के पापों के कारण अभिशप्त हुआ और अभिशाप की लकड़ी पर लटकाया गया। इसीलिए हमने पहले संकेत दे दिया है यसू मसीह का बलिदान अभिशप्त बलिदान है। पाप के फलस्वरूप अभिशाप आया और अभिशाप से सलीब हुई। अब परखने योग्य बात यह है कि क्या

अभिशाप का अर्थ किसी सच्चे व्यक्ति की ओर सम्बद्ध कर सकते हैं? अत: स्पष्ट हो कि ईसाइयों ने यह बड़ी ग़लती की है कि यसू के सम्बन्ध में अभिशाप शब्द के चरितार्थ होने को उचित ठहराया अर्थात वह तीन दिन तक ही हो या इस से भी कम क्योंकि अभिशाप में ऐसा अर्थ निहित है जो अभिशप्त व्यक्ति के हृदय से सम्बन्ध रखता है। किसी व्यक्ति को उस समय अभिशप्त कहा जाता है जब उसका हृदय ख़ुदा से पूर्णतया विमुख हो जाए और उसका शत्रु बन जाए। इसी कारण शैतान का नाम 'लईन' (अभिशप्त) है। इस बात को कौन नहीं जानता कि 'लानत' (अभिशाप) सानिध्य के स्थान से धिक्कृत किए जाने को कहते हैं। यह शब्द उस व्यक्ति के प्रति बोला जाता है जिसका हृदय ख़ुदा के प्रेम और उसकी आज्ञाकारिता से दूर जा पड़े और वास्तव में वह ख़ुदा का शत्रु बन जाए। लानत (अभिशाप) शब्द के यही अर्थ हैं जिस पर समस्त शब्दकोश विशेषज्ञ सहमत हैं। अब हम पूछते हैं कि यदि वास्तव में यसू मसीह पर लानत पड़ गई थी तो इस से यह अनिवार्य रूप से सिद्ध होता है कि वह ख़ुदा के प्रकोप का भागी बन गया और ख़ुदा का ज्ञान, उसकी आज्ञाकारिता तथा प्रेम उसके हृदय से जाता रहा था, और ख़ुदा उसका शत्रु और वह ख़ुदा का शत्रु हो गया था जैसा कि 'लानत' शब्द के अर्थ हैं। अत: अनिवार्य रूप से यह सिद्ध होता है कि अभिशाप के दिनों में वह वास्तव में काफ़िर और ख़ुदा से विमुख और ख़ुदा का शत्रु बन गया था और शैतान का भाग अपने अन्दर रखता था। अत: यसू के सम्बन्ध में ऐसी आस्था रखना (ख़ुदा की शरण चाहते हैं) अर्थात उसको शैतान का भ्राता बनाना है। मेरे विचार में एक सच्चे नबी के सम्बन्ध में ख़ुदा का भय रखने वाला कोई व्यक्ति ऐसी उद्धण्डता नहीं करेगा, उस व्यक्ति के अतिरिक्त जो स्वभाव से दुष्ट और अपवित्र हो।

अत: जब कि यह बात झूठी हुई कि वास्तविक रूप से यसू का हृदय अभिशाप का भागी हो गया था तो साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसा अभिशप्त बलिदान भी झूठा और अज्ञानी लोगों की स्वयंनिर्मित योजना है। यदि मोक्ष इसी प्रकार प्राप्त हो सकता है कि प्रथम यसू को शैतान और ख़ुदा से विमुख और दु:खी ठहराया जाए तो धिक्कार है ऐसे मोक्ष पर !!! इस से अच्छा था कि ईसाई अपने लिए नर्क स्वीकार कर लेते, परन्तु ख़ुदा के प्रिय को शैतान की उपाधि न देते। खेद है कि इन लोगों ने कैसी मूर्खतापूर्ण और अपवित्र बातों पर भरोसा कर रखा है। एक ओर तो ख़ुदा का पुत्र और ख़ुदा से उत्पन्न हुआ और ख़ुदा से जुड़ा हुआ मानते हैं और दूसरी ओर उसे शैतान की उपाधि देते हैं क्योंकि 'लानत' शैतान के लिए विशेष है और 'लईन' शैतान का नाम है और लानती (अभिशप्त) वह होता है जो शैतान से निकला और शैतान से जुड़ा हुआ और स्वयं शैतान है। अत: ईसाइयों की आस्था की दृष्टि से यसू में दो प्रकार की 'तस्लीस' (तीन ख़ुदाओं को मानने की आस्था) पाई गई - एक रहमानी और एक शैतानी। हम ख़ुदा की शरण चाहते हैं, यसू ने शैतान में होकर शैतान के साथ अपना अस्तित्व मिलाया और 'लानत' के द्वारा शैतानी गुण अपने भीतर लिए अर्थात यह कि ख़ुदा का अवज्ञाकारी हुआ, ख़ुदा से विमुख हुआ, ख़ुदा का शत्रु हुआ। अब मियाँ सिराजुद्दीन, आप न्यायपूर्वक कहें कि क्या यह उद्देश्य जो मसीह से सम्बद्ध किया जाता है कोई आध्यात्मिक या बुद्धिसंगत पवित्रता अपने अन्दर रखता है ? क्या संसार में इस से अधम कोई अन्य आस्था भी होगी कि एक सदात्मा को अपने मोक्ष के लिए ख़ुदा का शत्रु और ख़ुदा का अवज्ञाकारी और शैतान कहा जाए ? ख़ुदा को जो सर्वशक्तिमान और नितान्त कृपालु एवं दयालु था इस अभिशप्त

बलिदान की क्या आवश्यकता आ पड़ी ?

फिर जब इस सिद्धान्त को इस पक्ष से देखा जाए कि इस अभिशप्त बलिदान की शिक्षा यहूदियों को भी दी गई है अथवा नहीं तो इसके झूठ की वास्तविकता और भी स्पष्ट हो जाती है क्योंकि यह बात स्पष्ट है कि यदि अल्लाह तआला के हाथ में मानवजाति के मोक्ष के लिए केवल यही एक साधन था कि उस का एक पुत्र हो और वह समस्त पापियों के अभिशाप को अपने ऊपर ले ले और फिर अभिशप्त कुर्बानी देकर सूली पर खींचा जाए तो यह कार्य आवश्यक था कि यहूदियों के लिए तौरात और दूसरे ग्रन्थों में जो यहूदियों के हाथ में हैं इस अभिशप्त बलिदान का वर्णन किया जाता क्योंकि कोई बुद्धिमान इस बात को समझ नहीं सकता कि ख़ुदा का वह अजर-अमर नियम है जो उसने मानवजाति के मोक्ष के लिए निश्चित कर रखा है सदा बदलता रहे और तौरात के युग में कोई और हो, और इंजील के युग में कोई और, क़ुर्आन के युग में कोई और हो, तथा अन्य नबी जो संसार के अन्य भागों में आए उनके लिए कोई और हो। अब हम जब अन्वेषण और छानबीन की दृष्टि से देखते हैं तो ज्ञात होता है कि तौरात और यहूदियों के समस्त ग्रन्थों में अभिशप्त बलिदान की शिक्षा नहीं है। अतः हम ने इन दिनों में बड़े-बड़े यहूदी विद्वानों को पत्र लिखे और उनको ख़ुदा की सौगंध दे कर पूछा कि मानवजाति के मोक्ष के लिए तौरात और दूसरे ग्रन्थों में तुम्हें क्या शिक्षा दी गई है ? क्या यह शिक्षा दी गई है कि ख़ुदा के पुत्र के कफ़्फ़ारा और उसके बलिदान पर ईमान लाओ ? या कोई अन्य शिक्षा है ? तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि मोक्ष के सम्बन्ध में तौरात की शिक्षा पूर्णरूप से क़ुर्आन के अनुसार है अर्थात ख़ुदा की ओर सच्चे हृदय से लौटना और पापों की क्षमायाचना करना और तामसिक भावनाओं से दूर होकर ख़ुदा की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए शुभ कर्म करना और

उसकी सीमाओं, नियमों, आदेशों और उपदेशों का अत्यन्त दृढ़ता और प्रबलता के साथ पालन करना। यही मोक्ष का साधन है जिसका तौरात में बारम्बार वर्णन किया गया है और जिसका ख़ुदा के पवित्र नबी सदैव पालन कराते आए हैं और जिसका परित्याग करने पर अज़ाब (ख़ुदा का प्रकोप) भी आते रहे हैं। और उन यहूदी विद्वानों ने केवल यही नहीं किया कि अपने विस्तृत पत्रों से मुझे उत्तर दिया अपितु उन्होंने अपने अन्वेषक विद्वानों की दुर्लभ और अतुलनीय पुस्तकें जो इस सम्बन्ध में लिखी गई थीं मेरे पास भेज दीं जो अब तक विद्यमान हैं और पत्र भी विद्यमान हैं। जो व्यक्ति देखना चाहे, मैं दिखा सकता हूँ और इच्छा रखता हूँ कि एक विस्तृत किताब में वे सब प्रमाण लिख दूँ।

अब एक बुद्धिमान को अत्यन्त न्याय और हृदय की शुद्धता के साथ विचार करना चाहिए कि यदि यही बात सत्य हुई कि ख़ुदा ने यसू मसीह को अपना पुत्र बना कर दूसरों के अभिशाप उस पर डाल कर फिर इस अभिशप्त बलिदान को लोगों के मोक्ष का साधन बनाया था और यही शिक्षा यहूदियों को मिली थी तो क्या कारण था कि यहूदियों ने आज तक इस शिक्षा को गुप्त रखा और बड़ी तीव्रता के साथ उसके शत्रु रहे और यह आरोप और भी सशक्त हो जाता है कि जब हम देखते हैं कि यहूदियों की शिक्षा को ताज़ा करने के लिए साथ साथ नबी भी चले आए थे और हज़रत मूसा ने कई लाख मनुष्यों के समक्ष तौरात की शिक्षा का वर्णन किया था, फिर किस प्रकार सम्भव था कि यहूदी लोग ऐसी शिक्षा को जो लगातार नबियों से होती आई, भुला देते हालाँकि उन्हें आदेश था कि ख़ुदा के आदेशों और उपदेशों को अपनी चौखटों और दरवाज़ों और आस्तीनों पर लिखें और बच्चों को सिखाएं और स्वयं भी कण्ठस्थ करें। अब क्या यह बात समझ आ सकती है कि किसी का पवित्र अन्त:करण

यह गवाही दे सकता है कि संरक्षण और निगरानी के इतने साधनों के होते हुए भी यहूदियों के समस्त समुदाय के लोग तौरात की उस प्रिय शिक्षा को भूल गए जिस पर उनका मोक्ष आधारित था। यहूदी न केवल आज से अपितु दीर्घ समय से यह कहते चले आए हैं कि तौरात में उन्हीं बातों को मोक्ष का साधन बताया गया है जिनको क़ुर्आन में मोक्ष का साधन कहा गया है। अत: क़ुर्आन मजीद के समय में भी उन्होंने यही गवाही दी और अब भी यही गवाही देते हैं और इसी विषय के पत्र एवं पुस्तकें मेरे पास पहुँची हैं। यदि यहूदियों को मोक्ष के लिए इस अभिशप्त बलिदान की शिक्षा दी जाती तो कोई कारण समझ में नहीं आता कि क्यों वह इस शिक्षा को गुप्त रखते। हाँ, यह सम्भव था कि वे यसू मसीह को ख़ुदा का पुत्र करके न मानते और उसकी सलीब को सच्चे पुत्र की सलीब कल्पना न करते और यह कहते कि वह वास्तविक पुत्र जिसके बलिदान से संसार को मोक्ष प्राप्त होगा, यह नहीं है अपितु भविष्य में किसी समय में प्रकट होगा, परन्तु यह तो किसी प्रकार सम्भव न था कि यहूदियों के समस्त समुदाय सर्वथा ऐसी शिक्षा का इन्कार कर देते जो उनके ग्रन्थों में विद्यमान थी और ख़ुदा के पवित्र नबी उसको ताज़ा करते आए थे। यहूदी अब तक जीवित हैं और उनके विद्वान और पंडित भी विद्यमान हैं और उनके ग्रन्थ भी मौजूद हैं। यदि किसी को शंका हो तो उनके सम्मुख हो कर उनसे पूछ ले। क्या एक बुद्धिमान जो वास्तव में सच्चाई की खोज में है क्या वह इस बात की आवश्यकता नहीं समझता कि यहूदियों की भी इस में गवाही ले। क्या यहूदी वे प्रथम साक्षी नहीं हैं जो सैकड़ों वर्षों से तौरात की शिक्षा को कण्ठस्त करते आए हैं ? एक कमज़ोर व्यक्ति को ख़ुदा बनाना न इस पर पूर्वकालीन शिक्षाओं की गवाही, न उन शिक्षाओं के उत्तराधिकारियों की गवाही, न उसके बाद की शिक्षा की गवाही, न

बुद्धि की गवाही फिर उस व्यक्ति को ख़ुदा का भी कहना और फिर शैतान का भी। क्या इन गन्दी और अनुचित बातों को मानना पवित्र स्वभाव वालों का काम है ?!!

फिर जब इस आस्था को इस पक्ष से देखा जाए कि यद्यपि तौरात की उत्तराधिकारी और पूर्वकालीन शिक्षा का विरोध किया गया और एक का पाप दूसरे पर डाला गया और एक सदात्मा के हृदय को अभिशप्त तथा ख़ुदा से दूर और वंचित और शैतान का सहपंथी कहा गया, फिर इन समस्त दोषों के साथ इस अभिशप्त बलिदान को स्वीकार करने वालों को क्या लाभ हुआ - क्या वे पाप करने से रुक गए अथवा उनके पापों को क्षमा कर दिया गया। इससे तो इस आस्था की निरर्थकता और भी सिद्ध होती है क्योंकि पापों से रुक जाना और सच्ची पवित्रता प्राप्त करना तो स्पष्ट रूप से वास्तविकता के विरुद्ध है क्योंकि ईसाइयों की आस्थानुसार हज़रत दाऊद अलैहिस्सलाम भी यसू के कफ़्फ़ारा पर ईमान लाए थे, परन्तु उनके कथनानुसार ईमान लाने के पश्चात 'हम ख़ुदा की शरण चाहते हैं', हज़रत दाऊद ने एक निर्दोष की हत्या की और उसकी पत्नी से व्यभिचार किया और व्यभिचार के कार्यों में ख़िलाफ़त के ख़ज़ाने का धन खर्च किया और सौ पत्नियाँ रखीं और अन्तिम आयु तक अपने पापों को ताज़ा करते रहे और प्रतिदिन पूर्ण उद्दण्डता के साथ पाप करते रहे। अत: यदि यसू का अभिशप्त बलिदान पाप से रोक सकता तो उनके कथनानुसार दाऊद इस सीमा तक पाप में न डूबता। ऐसा ही यसू की तीन नानियाँ व्यभिचार के दुष्कर्म में लिप्त हुईं। अत: स्पष्ट है कि यदि यसू के अभिशप्त बलिदान पर ईमान लाना आन्तरिक पवित्रता उत्पन्न करने के लिए तनिक प्रभाव रखता तो उसकी नानियाँ अवश्य उन से लाभान्वित होतीं और ऐसे लज्जाजनक पापों में

लिप्त न होतीं। ऐसा ही यसू के हवारियों (शिष्यों) ने भी ईमान लाने के पश्चात लज्जाजनक पाप किए। यहूदा इस्क्रियूति ने तीस रुपये में यसू को बेचा और पित्रस ने सामने खड़े हो कर तीन बार यसू पर लानत भेजी और शेष सभी भाग गए। निस्सन्देह नबी पर लानत भेजना (धिक्कार करना) घोर पाप है। यूरोप में जो आजकल मदिरापान और व्यभिचार का तूफ़ान मचा है उसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। हम अपने किसी पूर्व लेख में कुछ माननीय पादरियों के व्यभिचार का वर्णन यूरोप के समाचार पत्रों के हवाले से कर चुके हैं। इन समस्त घटनाओं से पूर्ण स्पष्टता के साथ सिद्ध होता है कि यह अभिशप्त बलिदान पाप से नहीं रोक सका।

अब दूसरा भाग यह है कि यदि पाप रुक नहीं सकते तो क्या इस अभिशप्त बलिदान से सदैव पाप क्षमा किए जाते हैं। अर्थात यह एक ऐसी युक्ति है कि एक ओर एक दुष्ट अन्यायपूर्ण की हत्या करके या चोरी करके या झूठी गवाही से किसी की सम्पत्ति या प्राण या सम्मान को हानि पहुँचा कर अथवा किसी की सम्पत्ति को हड़पने के उद्देश्य से दबा कर और फिर उस अभिशप्त बलिदान पर ईमान ला कर ख़ुदा के भक्तों के अधिकारों का हनन कर सकता ही है। इसी प्रकार सदैव व्यभिचारिता की अपवित्र अवस्था में रह कर केवल अभिशप्त बलिदान को स्वीकार करके ख़ुदा की प्रकोपी पकड़ से बच सकता है। अतः स्पष्ट है कि ऐसा कदापि नहीं अपितु अपराध करके फिर उस अभिशप्त बलिदान की शरण में जाना दुष्टता का मार्ग है। ऐसा ज्ञात होता है कि पौलूस के हृदय में भी यह धड़का आरम्भ हो गया था कि यह सिद्धान्त उचित नहीं है। इसीलिए वह कहता है कि "यसू का बलिदान पहले पाप के लिए है और यसू पुनः सूली पर चढ़ाया नहीं जा सकता" परन्तु इस

कथन से वह बड़ी दुविधाओं में फंस गया है क्योंकि यदि यही उचित है कि यसू का अभिशप्त बलिदान पहले पाप के लिए है तो उदाहरण स्वरूप दाऊद नबी सदैव नर्क का पात्र बना रहेगा – नऊज़ुबिल्लाह (हम ख़ुदा की शरण मांगते हैं) क्योंकि उसने औरया की पत्नी से ईसाइयों के कथनानुसार व्यभिचार करके फिर उस स्त्री को ख़ुदा की अनुमति के बिना जीवनभर अपने घर में रखा। और वही मरयम की माताओं की श्रृंखला में यसू की पवित्र नानी है। इसके अतिरिक्त यह कि दाऊद ने एक सौ तक पत्नियाँ रखीं जिनका रखना ईसाइयों के मतानुसार उसके लिए उचित नहीं था। अत: यह पाप उसका पहला पाप न रहा अपितु बार-बार होता रहा और प्रतिदिन नवीन रूप में उसकी पुनरावृत्ति होती थी। जब अभिशप्त बलिदान पाप से रोक नहीं सकता तो निस्सन्देह ईसाइयों से भी पाप होते होंगे जैसा कि अब भी हो रहे हैं। अत: पौलूस के नियमानुसार उनका दूसरा पाप अक्षम्य है और उसका दण्ड सदैव नर्क में रहना है। इस स्थिति में एक भी ईसाई हमेशा के नर्क से मोक्ष प्राप्त करने वाला सिद्ध नहीं होता। उदाहरणतया मियाँ सिराजुद्दीन दूर न जाएं अपनी परिस्थितियाँ ही देखें कि पहले उन्होंने **मरयम के पुत्र** को ख़ुदा का पुत्र मान कर अभिशप्त बलिदान का बपतस्मा पाया और फिर क़ादियान में आकर पुन: मुसलमान हुए और स्वीकार किया कि मैंने बपतस्मा लेने में जल्दी की थी और नमाज़ पढ़ते रहे और कई बार मेरे सम्मुख स्वीकार किया कि कफ़्फ़ारा की व्यर्थता स्पष्ट रूप से मुझ पर प्रकट हो गई है तथा मैं उसको झूठा समझता हूँ। तदोपरान्त क़ादियान से वापस जा कर पादरियों के जाल में फंस गए और ईसाइयत को अपनाया। अब मियाँ सिराजुद्दीन को स्वयं विचार करना चाहिए कि जब प्रथम वे बपतस्मा पाकर ईसाई धर्म से विमुख हुए थे और वचन

और कर्म से उन्होंने उसके विरुद्ध आचरण किया तो ईसाई सिद्धान्त की दृष्टि से यह एक घोर पाप था जो दूसरी बार घटित हुआ। अत: पौलूस के कथनानुसार उनका यह पाप अक्षम्य होगा क्योंकि उसके लिए दूसरी सूली की आवश्यकता है।

और यदि यह कहें कि पौलूस से भूल हुई है या उसने झूठ बोला है और वास्तविकता यही है कि अभिशप्त बलिदान पर ईमान लाने के पश्चात कोई पाप शेष नहीं रहता, चोरी करो, व्यभिचार करो, अन्यायपूर्ण हत्या करो, झूठ बोलो, धरोहर को क्षति पहुँचाओ अर्थात कुछ भी करो पाप का दण्ड नहीं मिलेगा तो ऐसा धर्म एक अपवित्रता फैलाने वाला धर्म होगा, और तत्कालीन प्रभुत्व / सरकार के लिए उचित होगा कि ऐसी आस्थाओं के अनुयायियों से **ज़मानतें** ले। और यदि इस विचार को पुन: प्रस्तुत करें कि अभिशप्त बलिदान पर ईमान लाने वाला वास्तविक पवित्रता प्राप्त करता है और पाप से पवित्र हो जाता है तो हम इसका उत्तर पहले दे चुके हैं कि यह बात कदापि सत्य नहीं है और हम अभी दाऊद नबी का पाप, यसू की नानियों के पाप और हवारियों के पाप और महामहिम पादरियों के पापों का उल्लेख कर चुके हैं। इस तथ्य को समस्त अनुभवी लोग जानते हैं कि यूरोप आजकल व्यभिचार में प्रथम श्रेणी पर है। यदि कल्पना करके किसी के पवित्र जीवन का उदाहरण दिया जाए तो इस बात का क्या प्रमाण है कि वास्तव में उसका जीवन पवित्र है। बहुत से दुष्ट, हराम खाने वाले, व्यभिचारी, भार्याट, निर्लज्ज, मदिरा पान करने वाले पवित्र जीवन व्यतीत करने का आडम्बर कर सकते हैं और भीतर से उन कब्रों की भान्ति होते हैं जिन में दुर्गन्धपूर्ण शव और उसकी अस्थियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त यह विचार करना भी अनुचित है कि किसी जाति

के सभी के सभी लोग अपने स्वभाव की दृष्टि से सदाचारी या दुष्ट हैं अपितु हम देखते हैं कि ख़ुदा की प्रकृति के नियम ने यह दावा करने का अधिकार सब को प्रदान किया है कि जैसे कुछ लोग स्वभाववश दुष्ट और दुष्चरित्र, अहितैषी और दुराचारी हैं, उसी प्रकार उनकी तुलना में उनके कुछ दूसरे लोग स्वभाववश पवित्र हृदयी, विनीत, सुशील और सदाचारी हैं। प्रकृति के इस नियम की परिधि से न हिन्दू बाहर हैं, न पारसी, न यहूदी, न सिक्ख, न बौद्ध, यहाँ तक कि चूहड़े और चमार भी इस नियम के अन्तर्गत आते हैं और ज्यों ज्यों लोग सभ्यता और शालीनता में उन्नति करते हैं और उनका जाति समूह सम्मान और ज्ञान और प्रतिष्ठा का रंग पकड़ता जाता है त्यों त्यों उनके सदात्मा लोग अपने पवित्र जीवन और सदाचार में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं तथा विशिष्ट आभा के साथ अपना आदर्श प्रकट करते हैं।

यदि समस्त जातियों के कुछ व्यक्तियों की प्रकृति में पुण्य का तत्व न होता तो धर्म परिवर्तन से भी वह तत्व उत्पन्न न हो सकता क्योंकि ख़ुदा की प्रकृति में परिवर्तन नहीं। यदि कोई वास्तविक सच्चाई का भूखा और प्यासा है तो उसे अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि धर्म के अस्तित्व से पूर्व यह ख़ुदा प्रदत्त विभाजन हो चुका है कि किसी के स्वभाव में शालीनता और प्रेम का प्रभुत्व तथा किसी के स्वभाव में कठोरता एवं प्रकोप का प्रभुत्व है। अब धर्म यह सिखाता है कि वह प्रेम, आज्ञाकारिता, सच्चाई और निष्ठा जो एक मूर्तिपूजक अथवा मानवपूजा करने वाला सृष्टि के सम्बन्ध को उपासना के रूप में प्रकट करता है, उन इच्छाओं को ख़ुदा की ओर फेरे और उस प्रकार की आज्ञाकारिता ख़ुदा के मार्ग में दिखाए।

इस प्रश्न का कि मानव शक्तियों पर धर्म का अधिकार क्या है,

इंजील ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया क्योंकि इंजील युक्तिसंगत उपायों से दूर है, परन्तु क़ुर्आन मजीद बड़े विस्तार के साथ बार-बार इस समस्या का समाधान करता है कि धर्म का यह अधिकार नहीं कि मनुष्यों की प्राकृतिक शक्तियों का परिवर्तन करे और भेड़िये को बकरी बना कर दिखाए। वास्तव में धर्म का **अन्तिम परम उद्देश्य** यह है कि जो शक्तियाँ और निपुणताएं प्राकृतिक रूप से मनुष्य के अन्दर विद्यमान हैं उनका यथोचित उपयोग करने के लिए मार्गदर्शन करे। धर्म का यह अधिकार नहीं है कि किसी प्राकृतिक शक्ति को परिवर्तित कर दे। हाँ, यह अधिकार है कि उसका यथोचित उपयोग करने के लिए मार्गदर्शन करे और केवल एक शक्ति उदाहरण स्वरूप दया या क्षमा पर ज़ोर न डाले अपितु समस्त शक्तियों के प्रयोग के लिए उपदेश दे क्योंकि मानव शक्तियों में से कोई भी शक्ति अशुभ नहीं अपितु उसके उपयोग अथवा अनुपयोग में अनियमितता या उसका दुरुपयोग बुरा है और जो व्यक्ति निन्दनीय है वह केवल प्राकृतिक शक्तियों के कारण निन्दनीय नहीं अपितु उनके दुरुपयोग के कारण निन्दनीय है। अभिप्राय यह कि सर्वशक्तिमान विभाजक ने प्रत्येक जाति को प्राकृतिक शक्तियों का समान भाग दिया है और जैसा कि बाह्य अंग नाक आँख, मुँह, हाथ तथा पैर आदि समस्त जातियों के मनुष्यों को प्रदान किए हैं, ऐसे ही आन्तरिक शक्तियाँ भी सब को प्रदान हुई हैं और प्रत्येक जाति में औसत संख्या में अथवा बहुत अधिक या कम संख्या में सज्जन भी हैं और दुष्ट भी। परन्तु धार्मिक प्रभाव के अन्तर्गत किसी जाति का अच्छा बन जाना या किसी धर्म को किसी जाति की शालीनता का कारण बताना उस समय सिद्ध होगा जब उस धर्म के कुछ अनुयायियों में इस प्रकार के आध्यात्मिक चमत्कार पाये जाएं जिनका उदाहरण अन्य धर्म में न

मिल सके। अत: मैं दृढ़ता से कहता हूँ कि यह विशिष्टता इस्लाम में है। इस्लाम ने सहस्त्रों लोगों को उस स्तर के पवित्र जीवन तक पहुंचाया है जिसमें कह कहते हैं कि मानो ख़ुदा की आत्मा उनके भीतर निवास करती है। उनके भीतर स्वीकारिता की ऐसी ज्योति उत्पन्न हो गई है कि मानो वे ख़ुदा की ज्योति के द्योतक हैं। ये लोग प्रत्येक शताब्दी में प्रकट होते रहे हैं और उनका पवित्र जीवन प्रमाणरहित नहीं और केवल अपना मौखिक दावा नहीं अपितु ख़ुदा साक्ष्य देता रहा है कि उनका जीवन पवित्र है।

स्मरण रहे कि अल्लाह तआला ने क़ुर्आन मजीद में श्रेष्ठतम श्रेणी के पवित्र जीवन का यह लक्षण बताया है कि ऐसे मनुष्य से अलौकिक एवं विलक्षण चमत्कार प्रकट होते हैं और अल्लाह तआला ऐसे मनुष्यों की प्रार्थना को सुनता है और उनसे वार्तालाप करता है और समय से पूर्व उनको परोक्ष की सूचनाएं देता है और उनका समर्थन करता है। अत: हम देखते हैं कि इस्लाम में सहस्त्रों ऐसे लोग होते आए हैं। इस युग में यह नमूना दिखाने के लिए **यह विनीत** विद्यमान है परन्तु ईसाइयों में ये लोग कहाँ और किस देश में रहते हैं जो इंजील द्वारा प्रस्तुत निशानियों के अनुसार अपना वास्तविक ईमान और पवित्र जीवन सिद्ध कर सकते हैं? प्रत्येक वस्तु अपने लक्षणों से पहचानी जाती है जैसे कि प्रत्येक वृक्ष अपने फलों से पहचाना जाता है और यदि पवित्र जीवन मात्र दावा ही है और ग्रन्थों द्वारा निश्चित लक्षण उस दावे पर साक्ष्य नहीं देते तो यह दावा झूठा है। क्या इंजील ने सच्चे और वास्तविक ईमान का कोई लक्षण वर्णन नहीं किया? क्या उस ने उन लक्षणों को विलक्षण रूप में वर्णन नहीं किया? अत: यदि इंजीलों में सच्चे ईमान वालों के लक्षण लिखे हैं तो प्रत्येक ईसाई को जो पवित्र जीवन व्यतीत करने का दावा करता

है इंजील के लक्षणों के अनुसार परीक्षा लेनी चाहिए। एक उच्च श्रेणी के पादरी की एक साधारण से साधारण मुसलमान के साथ आध्यात्मिक प्रकाश और स्वीकारिता में तुलना करके देख लो। फिर यदि उस पादरी में उस साधारण मुसलमान की तुलना में तनिक भी दिव्य ज्योति का भाग पाया जाए तो हम प्रत्येक प्रकार के दण्ड के पात्र होंगे। इसी कारण मैं कई बार इस सम्बन्ध में ईसाइयों के समक्ष विज्ञापन दे चुका हूँ और मैं सच-सच कहता हूँ और मेरा ख़ुदा साक्षी है कि मुझ पर प्रकट हो गया है कि वास्तविक ईमान और वास्तविक पवित्र जीवन जो दिव्य ज्योति द्वारा प्राप्त हो इस्लाम के अतिरिक्त किसी प्रकार नहीं मिल सकता। यह पवित्र जीवन जो हमें प्राप्त हुआ है यह केवल हमारे मुख से निकले हुए बड़ाई के शब्द नहीं अपितु इस के पक्ष में आसमानी साक्ष्य हैं। कोई पवित्र जीवन बिना आसमानी साक्ष्य के सिद्ध नहीं हो सकता। किसी के अन्दर गुप्त वैमनस्य और बेईमानी की सूचना हमें नहीं मिल सकती। हाँ, जब आसमानी साक्ष्य वाले पवित्र हृदय लोग किसी जाति में पाए जाएं तो उस जाति के शेष लोग जो दिखावे के रूप में पवित्र जीवन व्यतीत करते होंगे, पवित्र जीवन वाले समझे जाएंगे, क्योंकि एक सम्पूर्ण जाति एक अस्तित्व की भांति है और एक ही नमूने से सिद्ध हो सकता है कि इस जाति को आसमानी पवित्र जीवन मिल सकता है।[1]

इस आधार पर मैंने ईसाइयों के लिए एक निर्णायक विज्ञापन दिया था। यदि उनको सत्य की अभिलाषा होती तो वे इस ओर आकर्षित होते और मैं अब भी कहता हूँ कि ईसाइयों को भी ईमान और पवित्र जीवन का दावा है और मुसलमानों को भी। अब अन्वेषण योग्य तथ्य यह है कि इन दोनों गुटों में ख़ुदा के निकट किसका ईमान स्वीकार्य

1 नोट :- इस स्थान पर अतीत की कोई घटना प्रस्तुत करना व्यर्थ है। वर्तमान की घटनाओं को उसकी तुलना में प्रस्तुत करना चाहिए। इसी से

और वास्तव में किस का जीवन पवित्र है, और किस का ईमान केवल शैतानी विचारों तथा पवित्र जीवन का दावा केवल अंधेपन का धोखा है। अत: मेरे विचार में जो ईमान अपने साथ आसमानी साक्ष्य रखता है और स्वीकारिता के लक्षण उस में पाए जाते हैं, वही ईमान शुद्ध और मान्य है और इसी प्रकार वास्तविक रूप में वही जीवन पवित्र है जो अपने साथ आसमानी निशान रखता है। इस का कारण यह है कि यदि केवल दावा ही स्वीकार करना है तो संसार की समस्त जातियाँ यही दावा कर रही हैं कि हमारे बीच में बड़े बड़े लोग पवित्र जीवन वाले गुज़रे हैं और मौजूद हैं अपितु वे ऐसे लोगों के कर्म भी प्रस्तुत करते हैं जिन की आन्तरिक वास्तविकता का निर्णय करना कठिन है। अत: यदि ईसाइयों का यह विचार है कि कफ़्फ़ारा से पवित्र ईमान और पवित्र जीवन मिलता है तो उन का कर्त्तव्य है कि वे अब मैदान में आएं और प्रार्थना के स्वीकार होने और निशानों के प्रकट होने में मेरे साथ मुक़ाबला कर लें। यदि आसमानी निशानों के साथ उन का जीवन पवित्र सिद्ध हो जाए तो मैं प्रत्येक प्रकार के दण्ड तथा प्रत्येक प्रकार के अपमान का पात्र हूँ। मैं बड़ी दृढ़ता से कहता हूँ कि आध्यात्मिकता की दृष्टि से ईसाइयों का जीवन अत्यधिक मलिन है और वह पवित्र ख़ुदा जो आकाश और धरती का ख़ुदा है उनकी आस्था की अवस्थाओं से ऐसी घृणा करता है जैसे हम अति दुर्गंधपूर्ण और सड़े हुए शव से घृणा करते हैं। यदि मैं इस कथन में झूठा हूँ और इस कथन में ख़ुदा मेरे साथ नहीं है तो नम्रता और शालीनता से मुझ से निर्णय कर लें। मैं फिर कहता हूँ कि ईसाइयों में कदापि वह पवित्र जीवन विद्यमान नहीं है जो आसमान से उतरता और हृदयों को प्रकाशित करता है। अपितु जैसा कि मैं उल्लेख कर चुका हूँ कि कुछ लोगों में स्वाभाविक रूप से शालीनता

का पाया जाना एक साधारण बात है। अत: स्वाभाविक शालीनता मेरे विवाद का विषय नहीं। ऐसी विनम्रता और शालीनता वाले लोग प्रत्येक जाति में कहीं कम और कहीं अधिक पाए जाते हैं यहाँ तक कि भंगी और चमार भी इस क्षेत्र से बाहर नहीं परन्तु मेरा विषय आसमानी पवित्र जीवन में है जो ख़ुदा के सजीव शब्दों से प्राप्त होता है और आसमान से उतरता और अपने साथ आसमानी निशान रखता है अत: यह ईसाइयों में विद्यमान नहीं। अब हमें कोई समझाए कि अभिशप्त बलिदान का क्या लाभ हुआ?

अब चूंकि इस मोक्ष के मार्ग का विवरण हो चुका जो ईसाई यसू से सम्बद्ध करते हैं तो इस पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या हमारे नबी सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम का उद्देश्य भी यही अभिशप्त प्रेम तथा अभिशप्त बलिदान मानवजाति की पवित्रता और मोक्ष के लिए प्रस्तुत करता है अथवा कोई अन्य मार्ग प्रस्तुत करता है? इसका उत्तर यह है कि इस मलिन और अपवित्र मार्ग से इस्लाम का दामन सर्वथा पवित्र है। वह कोई अभिशप्त बलिदान प्रस्तुत नहीं करता और न अभिशप्त प्रेम प्रस्तुत करता है अपितु उस ने हमें यह शिक्षा दी है कि हम वास्तविक पवित्रता प्राप्त करने के लिए अपने अस्तित्व का पवित्र बलिदान प्रस्तुत करें जो निष्कपटता के जल से स्वच्छ की हुई और सत्य एवं धैर्य की आग से शुद्ध की गई है। जैसा कि वह फ़रमाता है :

بَلٰى مَنْ اَسْلَمَ وَجْهَهٗ لِلّٰهِ وَهُوَ مُحْسِنٌ فَلَهٗٓ اَجْرُهٗ عِنْدَ رَبِّهٖ وَلَا
خَوْفٌ عَلَيْهِمْ وَلَا هُمْ يَحْزَنُوْنَ-[1]

अर्थात जो व्यक्ति अपने अस्तित्व को ख़ुदा के समक्ष रख दे और अपना जीवन उसके मार्गों में समर्पित कर दे और शुभ कार्य करने में

1 (अल-बक़र: : 113)

सक्रिय हो, वह ख़ुदा के सानिध्य के स्रोत से अपना प्रतिफल प्राप्त करेगा। ऐसे लोगों के लिए न कोई भय है, न चिंता। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियाँ ख़ुदा के मार्ग में लगा दे और शुद्ध रूप से उसका वचन, कर्म, गति और विश्राम तथा समस्त जीवन ख़ुदा के लिए हो जाए, तथा वास्तविक पुण्य करने में सक्रिय रहे, ऐसे व्यक्ति को ख़ुदा प्रतिफल प्रदान करेगा और भय और चिंता से मुक्ति प्रदान करेगा।

स्मरण रहे कि यही 'इस्लाम' शब्द का जिसका इस स्थान पर वर्णन हुआ है, अन्य शब्दों में क़ुर्आन मजीद में इसका नाम 'इस्तिक़ामत' (दृढ़ता) रखा है, जैसा कि वह यह दुआ सिखाता है :

اِهْدِنَا الصِّرَاطَ الْمُسْتَقِيْمَ - صِرَاطَ الَّذِيْنَ اَنْعَمْتَ عَلَيْهِمْ[1]

अर्थात हमें दृढ़ता के मार्ग पर स्थापित कर। उन लोगों का मार्ग जिन्होंने तुझ से पुरस्कार प्राप्त किया और जिस पर आसमानी द्वार खुले। स्पष्ट रहे कि प्रत्येक वस्तु की रचनात्मक दृढ़ता उसके अन्तिम उद्देश्य पर दृष्टि डाल कर समझी जाती है। मनुष्य के अस्तित्व का अन्तिम उद्देश्य यह है कि मानवजाति ख़ुदा के लिए उत्पन्न की गई है। अत: मनुष्य की रचनात्मक दृढ़ता यह है कि जैसे वह शाश्वत आज्ञाकारिता के लिए उत्पन्न किया गया है वैसे ही वास्तविक रूप में वह ख़ुदा के लिए हो जाए। जब वह अपनी समस्त शक्तियों सहित ख़ुदा के लिए हो जाएगा तो निस्सन्देह उस को पुरस्कार प्राप्त होगा जिस को अन्य शब्दों में पवित्र जीवन कह सकते हैं। जैसा कि तुम देखते हो जब सूर्य की ओर खिड़की खोली जाए तो सूर्य की किरणें अवश्य खिड़की के भीतर आ जाती हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य अल्लाह तआला की ओर नितान्त सीधा हो जाए और उसमें तथा अल्लाह तआला में कोई आवरण न रहे

---

1 अल-फ़ातिहा : 6-7

तब तुरन्त एक प्रकाशमय ज्योति उस पर उतरती है और उसे प्रकाशमान बना देती है और उसकी समस्त आन्तरिक मलिनता को धो देती है। तदोपरान्त वह एक नवीन मनुष्य बन जाता है तथा उसके भीतर एक महान परिवर्तन उत्पन्न होता है। तब कहा जाता है कि इस व्यक्ति को पवित्र जीवन प्राप्त हुआ है। इस पवित्र जीवन के प्राप्त करने का स्थान यही संसार है। इस ओर महाप्रतापी अल्लाह इस आयत में संकेत करते हुए फ़रमाता है :

وَمَنْ كَانَ فِيْ هٰذِهٖٓ اَعْمٰى فَهُوَ فِي الْاٰخِرَةِ اَعْمٰى وَاَضَلُّ سَبِيْلًا [1]

अर्थात जो व्यक्ति इस संसार में अन्धा रहा और ख़ुदा के दर्शन करने का प्रकाश उसे प्राप्त न हुआ तो वह उस लोक में भी अन्धा ही होगा। अभिप्राय यह कि ख़ुदा का दर्शन करने के लिए मनुष्य इसी संसार से इन्द्रियां ले जाता है। जिसे इस संसार में ये इन्द्रियां प्राप्त नहीं हुईं तथा उसका ईमान मात्र किंवदंतियों और कथाओं तक सीमित रहा, वह सदैव अन्धकार में पड़ा रहेगा। सारांश यह कि अल्लाह तआला ने पवित्र जीवन और वास्तविक मोक्ष प्राप्त करने के लिए हमें यही शिक्षा दी है कि हम पूर्णरूप से ख़ुदा के हो जाएं और सच्ची वफ़दारी के साथ उसके द्वार पर गिरें उस दुष्टता से स्वयं को पृथक रखें कि सृष्टि को ख़ुदा कहने लगें यद्यपि इसमें प्राण चले जाएं, टुकड़े-टुकड़े किए जाएं, अग्नि में जलाए जाएं और इस प्रकार अपने रक्त से ख़ुदा के अस्तित्व का प्रमाण उपलब्ध कराएं। इसी कारण ख़ुदा ने हमारे धर्म का नाम **'इस्लाम'** रखा जिस से यह संकेत मिले कि हमने ख़ुदा के सर रख दिया है। प्रकृति का नियम स्पष्ट रूप से इस बात का साक्षी है कि पवित्रता और वास्तविक मोक्ष प्राप्त करने का क़ुर्आन मजीद ने जो नियम सिखाया है वही नियम भौतिक संसार में

1 बनी इस्राईल : 73

भी पाया जाता है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि समस्त प्राणियों पेड़-पौधों में कुपोषण के कारण और पोषक तत्वों के अभाव के कारण रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रकृति ने उनके निवारण का यही नियम निश्चित किया है कि आहार के लिए पवित्र वस्तुएँ उपलब्ध की जाएं और घटिया वस्तुओं को बन्द कर दिया जाए। उदाहरण स्वरूप वृक्षों पर दृष्टि डालो कि वे स्वस्थ रहने के लिए दो प्रवृतियां अपने भीतर रखते हैं - प्रथम यह कि वे अपनी जड़ों को भूमि के अन्दर दबाते चले जाते हैं कि कहीं अलग रह कर शुष्क न हो जाएं। द्वितीय यह कि वे अपनी जड़ों की नाड़ियों के द्वारा धरती का जल अपनी ओर खींचते हैं और इस प्रकार वृद्धि करते हैं। अत: यही नियम प्रकृति ने मनुष्य के लिए निश्चित किया है। अर्थात वह उस स्थिति में सफल होता है कि प्रथम वह सत्य एवं दृढ़ता के साथ ख़ुदा में स्वयं को सुस्थापित करता है और इस्तिग़फ़ार (पापों की क्षमा-याचना) के साथ अपनी जड़ों को ख़ुदा-प्रेम में लगाता है तथा भौतिक एवं क्रियात्मक 'तौबा' (प्रायश्चित) से ख़ुदा की ओर झुकने के द्वारा अपनी विनम्रता और हीनता की नाड़ियों के साथ दिव्य जल अपनी ओर खींचता है तथा इस प्रकार ऐसे जल को अपनी ओर अवशोषित करता है कि वह पाप की शुष्कता को धो डालता है और दुर्बलता को दूर कर देता है।

और इस्तिग़फ़ार जिसके साथ ईमान की जड़ें सुदृढ़ होती हैं क़ुर्आन मजीद में दो अर्थों में आया है। प्रथम तो यह कि अपने हृदय को ख़ुदा के प्रेम में सुदृढ़ करके पापों के प्रकटन को जो एकान्त अवस्था में प्रबल रूप से सक्रिय होते हैं अल्लाह तआला के सम्बन्ध के साथ रोकना और ख़ुदा में लीन होकर उस से सहायता की याचना करना। यह इस्तिग़फ़ार तो ख़ुदा का सानिध्य प्राप्त लोगों का है जो एक क्षण भी ख़ुदा से पृथक होने को अपने विनाश का कारण समझते हैं इसलिए इस्तिग़फ़ार करते

हैं ताकि ख़ुदा उन्हें अपने प्रेम में थामे रखे। और इस्तिग़फ़ार का दूसरा प्रकार यह है कि पाप से निकल कर ख़ुदा की ओर भागना और प्रयास करना। जिस प्रकार वृक्ष भूमि में लग जाता है उसी प्रकार हृदय ख़ुदा-प्रेम का दास बन जाए ताकि पवित्र वृद्धि पा कर पाप की शुष्कता और पतन से बच जाए। इन दोनों स्थितियों का नाम इस्तिग़फ़ार रखा गया क्योंकि 'ग़फ़र' जिस से 'इस्तिग़फ़ार' निकला है ढांपने और दबाने को कहते हैं। अतः इस्तिग़फ़ार का अर्थ यह है कि वह व्यक्ति जो ख़ुदा-प्रेम में स्वयं को स्थापित करता है ख़ुदा उसके पाप दबाए रखे और मानवीय दुर्बलता की जड़ों को नग्न न होने दे अपितु दिव्य-चादर में लेकर अपनी पवित्रता में से हिस्सा दे और यदि कोई जड़ पाप के प्रकट होने से नग्न हो गई हो फिर उसको ढांप दे तथा उसको नग्नता के दुष्प्रभाव से सुरक्षित रखे। चूंकि ख़ुदा वरदानों का उद्‌गम है और उसकी ज्योति प्रत्येक अंधकार को दूर करने के लिए सदैव तैयार है इसलिए पवित्र जीवन प्राप्त करने के लिए यही सद्‌मार्ग है कि हम इस भयानक स्थिति से डर कर उस पवित्रता के स्रोत की ओर दोनों हाथ फैलाएं ताकि वह स्रोत प्रबलता से हमारी ओर गति करे और समस्त मलिनता को एक ही बार में ले जाए। ख़ुदा को प्रसन्न करने वाला इससे श्रेष्ठतम कोई अन्य बलिदान नहीं कि हम वास्तव में उसके मार्ग में मृत्यु स्वीकार करके अपना अस्तित्व उसके समक्ष रख दें। उसी बलिदान की हमें ख़ुदा ने शिक्षा दी है। जैसा कि वह फ़रमाता है :-

لَنۡ تَنَالُوا الۡبِرَّ حَتّٰی تُنۡفِقُوۡا مِمَّا تُحِبُّوۡنَ[1]

अर्थात तुम वास्तविक पुण्य को कदापि नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि तुम अपनी समस्त प्रिय वस्तुएं ख़ुदा के मार्ग में खर्च न करो।

1 आले इम्रान : 93

यह मार्ग है जो क़ुर्आन ने हमें सिखाया है और आसमानी साक्ष्य उच्च स्वर में पुकार रही हैं कि यही सदमार्ग है और बुद्धि भी इस की गवाही देती है। अत: जो बात साक्ष्य के साथ सिद्ध है उसके सामने वह बात मुकाबला नहीं कर सकती जिस का कोई साक्ष्य नहीं। यसू नासिरी ने अपना क़दम क़ुर्आन की शिक्षानुसार रखा, इसलिए उसने ख़ुदा से पुरस्कार पाया ठीक उसी प्रकार जो व्यक्ति इस पवित्र शिक्षा को अपना मार्गदर्शक बनाएगा वह भी यसू के सदृश हो जाएगा। यह पवित्र शिक्षा सहस्त्रों को ईसा मसीह बनाने के लिए तैयार है और लाखों को बना चुकी है।

हम अत्यन्त विनम्रता और सत्कार के साथ माननीय पादरियों की सेवा में प्रश्न करते हैं कि इस असहाय दुर्बल व्यक्ति को ख़ुदा मान कर आप की आध्यात्मिकता में कितनी उन्नति हुई है। यदि वह उन्नति सिद्ध करो तो हम लेने को तैयार हैं। वरन् हे अभागे **सृष्टि पूजक** लोगो! **आओ** हमारी उन्नतियाँ देखो और मुसलमान हो जाओ। क्या वह न्याय की बात नहीं कि जो व्यक्ति अपने पवित्र जीवन और पवित्र ज्ञान और पवित्र प्रेम के सम्बन्ध में आसमानी साक्ष्य रखता है, वही सच्चा है और जिसके हाथ में केवल **किंवदंतियां और कथाएं** हैं वह अभागा, **झूठा** और मल भक्षक है।

प्रश्न 2 :- यदि इस्लाम का उद्देश्य एकेश्वरवाद की ओर मनुष्यों को ले जाना है तो क्या कारण है कि इस्लाम के आरम्भ में यहूदियों के साथ जिन के इल्हामी ग्रन्थ एकेश्वरवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं सिखाते, जिहाद किया गया? अथवा क्यों आजकल यहूदियों या एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का पालन करने वाले अन्य लोगों का मोक्ष की प्राप्ति के लिए मुसलमान होना अनिवार्य समझा जाए?

उत्तर :- स्पष्ट हो कि हमारे नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम के युग में यहूदी तौरात के निर्देशों से बहुत दूर जा पड़े थे। यद्यपि यह सत्य है कि उनके ग्रन्थों में एकेश्वरवाद था, तथापि वे एकेश्वरवाद से लाभान्वित नहीं होते थे और वह परम उद्देश्य जिसके लिए मनुष्य को पैदा किया गया और ग्रन्थ उतारे गए उसको भुला बैठे थे। वास्तविक एकेश्वरवाद यह है कि ख़ुदा के अस्तित्व को स्वीकार करके और उसके अद्वैत होने को स्वीकार करके फिर उस सर्वगुण सम्पन्न उपकारी ख़ुदा की आज्ञाकारिता और प्रसन्नता प्राप्ति की अभिलाषा में व्यस्त होना और उसके प्रेम में खो जाना। अत: क्रियात्मक रूप से यह एकेश्वरवाद उनमें शेष न रहा था तथा अल्लाह तआला की प्रतिष्ठा और प्रताप उनके हृदयों से लुप्त हो गया था वे होठों से ख़ुदा ख़ुदा पुकारते थे, परन्तु उनके हृदय शैतान के उपासक हो गए थे और उनके हृदय संसार पूजन, संसार की अभिलाषा, छल एवं कपट में अत्यधिक बढ़ गए थे। उनमें साधुओं और भिक्षुओं की पूजा होती है और अत्यन्त लज्जाजनक व्यभिचार के काम प्रचलित थे, पाखण्ड और आडम्बर के कार्य बढ़ गए थे, छल-कपट बहुत बढ़ गया था। यह तो स्पष्ट है कि एकेश्वरवाद इस बात का नाम नहीं कि मुख से لَا اِلٰہَ اِلَّا اللّٰہُ (ला इलाहा इल्लल्लाह) (अर्थात अल्लाह के अतिरिक्त कोई उपासना के योग्य नहीं) कहें और हृदय में सहस्त्रों मूर्तियाँ एकत्र हों। जो व्यक्ति अपने किसी कार्य, छल, कपट या उपाय को ख़ुदा के समान प्रतिष्ठा देता है कि ऐसी प्रतिष्ठा जो ख़ुदा को देने योग्य हो, तो इन सभी अवस्थाओं में वह ख़ुदा के निकट मूर्तिपूजक है। मूर्तियां केवल वे ही नहीं जो स्वर्ण, चांदी, पीतल अथवा पत्थर से बनाई जाती हैं और उन पर भरोसा किया जाता है, अपितु प्रत्येक वस्तु

कथन अथवा वचन जिसे वह प्रतिष्ठा प्रदान की जाए जिसका पात्र ख़ुदा है, तो वह ख़ुदा की दृष्टि में मूर्ति है। हां, यह सत्य है कि तौरात में इस सूक्ष्म प्रकार की मूर्ति पूजन की व्याख्या नहीं, परन्तु क़ुर्आन मजीद इन व्याख्याओं से भरा पड़ा है। अतः क़ुर्आन मजीद को उतारने से ख़ुदा का एक उद्देश्य यह भी था कि यह मूर्ति-पूजा भी जो क्षय रोग की भांति लगी हुई थी को लोगों के हृदय से दूर करे और इस युग में यहूदी इस प्रकार की मूर्ति पूजा में लिप्त थे और तौरात उनको छुड़ा नहीं सकती थी क्योंकि तौरात में ऐसी सूक्ष्म शिक्षा नहीं थी। एक अन्य कारण यह कि यह रोग जो समस्त यहूदियों में व्याप्त था एक पवित्र एकेश्वरवाद का आदर्श चाहती थी जो जीवित रूप में एक सम्पूर्ण मनुष्य में प्रकट हो।

स्मरण रहे कि वास्तविक एकेश्वरवाद जिस को ख़ुदा हम से स्वीकार कराना चाहता और जिसके स्वीकार करने से मोक्ष सम्बद्ध है वह यह है कि ख़ुदा के अस्तित्व को प्रत्येक भागीदार चाहे मूर्ति हो या मनुष्य, सूर्य हो अथवा चन्द्रमा, या अपने प्राण या अपना उपाय अथवा छल-कपट हो, से **पवित्र समझना** और उसके समक्ष किसी को सर्वशक्तिमान न ठहराना, किसी को प्रतिपालक न स्वीकार करना, किसी अन्य को सम्मान प्रदान करने वाला अथवा अपमानित करने वाला न समझना, किसी अन्य को सहायक स्वीकार न करना और यह कि अपना प्रेम विशेष उसी से सम्बद्ध करना, अपनी प्रार्थना विशेष उसी से सम्बद्ध करना। अतः किसी प्रकार का भी एकेश्वरवाद इन तीन प्रकार की विशिष्टताओं के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। **प्रथम** अस्तित्व की दृष्टि से एकेश्वरवाद अर्थात यह कि उसके अस्तित्व की तुलना में समस्त सृष्टि को ऐसा समझना कि उसका अस्तित्व ही नहीं है, और समस्त सृष्टि

को नश्वर और अवास्तविक विचार करना। **द्वितीय** विशेषताओं की दृष्टि से एकेश्वरवाद अर्थात यह कि प्रतिपालन और ख़ुदा होने का गुण परमेश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य जीव में विद्यमान होना न स्वीकार करना, तथा जो बाह्य रूप में जीवों के रब्ब अथवा वदान्य दिखाई देते हैं, इनको उसी (परमेश्वर) के हाथ का एक प्रबन्ध होने का विश्वास करना। **तृत्तीय** अपने प्रेम, सच्चाई और शुद्धता की दृष्टि से एकेश्वरवाद अर्थात प्रेम, उपासना आदि के शिष्टाचार में किसी अन्य को अल्लाह तआला का भागीदार न समझना और उसी में लीन होते जाना। अतः इस एकेश्वरवाद को जो तीन भागों पर आधारित है तथा मोक्ष का वास्तविक आधार है यहूदियों ने खो दिया था। अतः उनका दुराचार इस बात पर स्पष्ट रूप से साक्ष्य था कि उनके होठों पर तो ख़ुदा को मानने का दावा है परन्तु हृदय में नहीं। जैसा कि क़ुर्आन स्वयं यहूदियों और ईसाइयों को अपराधी ठहराता है और कहता है यदि ये लोग तौरात और इंजील का पालन करते तो आध्यात्मिक आजीविका भी उन्हें मिलती और भौतिक भी अर्थात आसमानी विलक्षणताएं और प्रार्थना की स्वीकारिता और कश्फ़ और इल्हाम (ईशवाणी) जो मौमिन के लक्षण हैं उनमें पाए जाते – यह आध्यात्मिक आजीविका है। इसी प्रकार भौतिक आजीविका भी उन्हें प्राप्त होती परन्तु अब वे आध्यात्मिक आजीविका से सर्वथा वंचित हैं और भौतिक आजीविका भी उन्हें सच्चाई के मार्गों द्वारा नहीं अपितु छल-कपट द्वारा प्राप्त होती है। अतः वे दो प्रकार की आजीविका से वंचित हैं।

अब यह भी स्मरण रहे कि क़ुर्आन मजीद की शिक्षा से निस्सन्देह यह सिद्ध होता है कि यहूदियों और ईसाइयों से युद्ध हुए परन्तु उन युद्धों

का आरम्भ इस्लाम के अनुयायियों द्वारा कदापि नहीं हुआ। वास्तव में स्वयं इस्लाम विरोधियों ने कष्ट पहुँचा कर अथवा कष्ट पहुंचाने वालों की सहायता करके उन युद्धों की परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। जब उनकी ओर से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं तो अल्लाह के स्वाभिमान ने उन जातियों को दण्ड देना चाहा और इस दण्ड में ख़ुदा की दयालुता ने यह छूट दी कि इस्लाम में प्रवेश करने वाला अथवा कर[1] देने वाला उस से बच जाए। यह छूट भी ख़ुदा की प्रकृति के नियमानुसार थी क्योंकि प्रत्येक कष्ट जो प्रकोप के रूप में उतरता है, उदाहरणतया संक्रामक रोग या दुर्भिक्ष, तो मनुष्यों की अन्तरात्मा स्वयं इस ओर आकर्षित हो जाती है कि वे प्रार्थना, प्रायश्चित, रुदन एवं क्रंदन, दान एवं पुण्य के द्वारा उस प्रकोप को टालने दें। अतः सदैव ऐसा ही होता है। इस से यह प्रमाण उपलब्ध होता है कि दयावान ख़ुदा प्रकोप को दूर करने के लिए स्वयं हृदयों में ईशवाणी डालता है, जैसा कि हज़रत मूसा अलैहिस्सलाम की प्रार्थना के कई बार स्वीकृत होने से बनी इस्राईल के सर से प्रकोप टल गया। अभिप्राय यह कि इस्लाम के युद्ध कठोर प्रवृति वाले विरोधियों के लिए एक प्रकोप था जिसमें दया का एक मार्ग भी खुला था। अतः यह विचार करना कि इस्लाम ने एकेश्वरवाद के प्रसार के लिए युद्ध किए एक धोखा है। स्मरण रखना चाहिए कि मात्र दण्ड देने की दृष्टि से युद्धों का आरम्भ उस समय हुआ जब अन्य जातियों ने अत्याचार और विरोध करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

जहाँ तक इस प्रश्न का संबंध है कि यहूदियों को मुसलमान होने की क्या आवश्यकता थी, वे तो पहले से ही एकेश्वरवादी थे? इस का

---

1 वह कर जो इस्लामी सरकारों में ग़ैर मुस्लिमों से उनकी सुरक्षा के दायित्व हेतु लिया जाता था, जो बहुत थोड़ा होता था जो बच्चे, बूढ़ों, स्त्रियों तथा धार्मिक पेशवाओं से नहीं लिया जाता था। अनुवादक

उत्तर हम अभी दे चुके हैं कि एकेश्वरवाद यहूदियों के हृदयों में स्थापित न था, केवल ग्रन्थों में था और वह भी त्रुटिपूर्ण अत: एकेश्वरवाद की सजीव भावना प्राप्त करने की आवश्यकता थी क्योंकि जब तक एकेश्वरवाद की सच्ची भावना मनुष्य के हृदय में स्थापित न हो तब तक मोक्ष संभव नहीं। यहूदी मुर्दों की भांति थे और उनके हृदय की कठोरता और भिन्न-भिन्न प्रकार की अवज्ञा के कारण वह सच्ची भावना उनमें लुप्त हो चुकी थी, उनका ख़ुदा के साथ कुछ भी संबंध शेष न रहा था, उनकी तौरात त्रुटिपूर्ण शिक्षा और शाब्दिक एवं अर्थ-संबन्धी हस्तक्षेप के कारण कि पूर्ण रूप से मार्गदर्शक के योग्य न ठहर सके। इसलिए परमेश्वर ने अपनी सजीव वाणी को ताज़ा वर्षा की भांति उतारा और उस सजीव वाणी की ओर उनको आमंत्रित किया ताकि वे भिन्न भिन्न प्रकार के छल और त्रुटियों से छुटकारा प्राप्त कर वास्तविक मोक्ष प्राप्त कर सकें। अत: कुर्आन मजीद को उतारे जाने की आवश्यकताओं में से **प्रथम** यह थी कि स्वभाव से निष्प्राण यहूदियों को सजीव एकेश्वरवाद सिखाए और **द्वितीय** यह कि उनके दोषों से उनको अवगत कराए। **तृतीय** यह कि जिन विषयों पर तौरात में केवल सांकेतिक रूप से वर्णन है, उदाहरणतया शरीरों के विनाश की समस्या और आत्मा के अमर होने की समस्या तथा स्वर्ग और नर्क का विषय, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जए।

यह बात सत्य है कि सत्य का बीजारोपण तौरात के द्वारा हुआ और इंजील से उस बीज ने भविष्य में शुभ संदेश देने वाले की भांति मुँह दिखाया। जैसे एक खेत की हरियाली पूर्ण स्वास्थ्य और उत्तम रूप से प्रकट होती है और अपनी प्रत्यक्ष दशा से यह शुभ संदेश देती है कि

इसके उपरान्त अच्छे फल और अच्छे गुच्छे प्रकट होने वाले हैं, ठीक उसी प्रकार इंजील पूर्ण शरीअत (धर्म विधान) और पूर्ण मार्गदर्शक का शुभ संदेश देने हेतु आई और क़ुर्आन मजीद से वह बीज अपनी पूर्णता को पहुँचा जो अपने साथ उस पूर्ण वदान्यता को लाया जिसने सत्य एवं झूठ में स्पष्ट अन्तर करके दिखाया और धार्मिक ज्ञान तत्वों को पूर्णता तक पहुंचाया जैसा कि तौरात में पहले से लिखा था कि : **"परमेश्वर सीना से आया और सईर से प्रकट हुआ तथा फ़ारान के पर्वत से उन पर चमका"**

यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित है कि शरीअत के प्रत्येक पक्ष को पूर्णरूप में केवल क़ुर्आन मजीद ने ही स्पष्ट किया है। शरीअत के बड़े भाग दो हैं। परमेश्वर के अधिकार और मनुष्यों के अधिकार। यह दोनों भाग केवल क़ुर्आन मजीद ने ही पूर्ण किए हैं। क़ुर्आन मजीद का यह कर्त्तव्य था कि पशु-समान लोगों को मनुष्य बनाए, मनुष्य को सदाचारी मनुष्य बनाए और सदाचारी मनुष्य को परमेश्वर स्वरूप मनुष्य बनाए। अत: इस कर्त्तव्य को उसने ऐसे ढंग से पूर्ण किया कि जिसकी तुलना में तौरात एक मूक व्यक्ति के समान है।

क़ुर्आन मजीद की समस्त आवश्यकताओं में से एक यह भी थी कि हज़रत मसीह के सम्बन्ध में यहूदियों और ईसाइयों में जो मतभेद उत्पन्न हो गया था उसे दूर करे। अत: क़ुर्आन मजीद ने इन सब विवादों का निर्णय किया। जैसा कि क़ुर्आन मजीद की यह आयत

يٰعِيۡسٰٓى اِنِّىۡ مُتَوَفِّيۡكَ وَرَافِعُكَ اِلَىَّ [1]

(अर्थात हे ईसा! मैं तुझे (स्वाभाविक) मौत दूँगा और

1 आले इम्रान : 56

तुझे अपनी ओर से प्रतिष्ठा दूँगा)

अंत तक इसी विवाद के निर्णय के लिए है क्योंकि यहूदी लोग यह विचार करते थे कि ईसाइयों के नबी (अवतार) अर्थात मसीह को सूली पर चढ़ाया गया। अतः तौरात के आदेशानुसार वह अभिशप्त हुआ और उसे ऊपर नहीं उठाया गया यह उसके झूठा होने का प्रमाण है।" और ईसाइयों का यह विचार था कि वह (ईसा मसीह) अभिशप्त तो हुआ परन्तु हमारे लिए और उसके उपरान्त भविष्य के लिए अभिशाप समाप्त हो गया और ख़ुदा ने उसे ऊपर उठा कर अपनी दाईं ओर बिठा लिया। अब इस आयत ने यह निर्णय किया कि मसीह को ऊपर उठाए जाने की क्रिया अविलम्ब हुई, न यहूदियों की धारणा पर स्थायी लानत (अभिशाप) पड़ी कि जिस के कारण वह ख़ुदा की ओर (आध्यात्मिक तौर पर) उठाए जाने से सदा के लिए वंचित हो जाता और न ईसाइयों की धारणा पर कुछ दिनों के लिए अभिशाप रहा और तदोपरान्त वह ख़ुदा की ओर उठा लिया गया, अपितु मृत्यु के साथ ही ख़ुदा की ओर आध्यात्मिक रफ़ा हो गया। इन्हीं आयतों में अल्लाह तआला ने यह भी समझा दिया कि ख़ुदा की ओर उठाए जाने की क्रिया तौरात के आदेशों के विरुद्ध नहीं क्योंकि तौरात का आदेश ख़ुदा की ओर (आध्यात्मिक तौर पर) रफ़ा (उठाया जाना) और होना इस अवस्था में है कि जब कोई सलीब पर मारा जाए। केवल सलीब के छूने अथवा सलीब पर कुछ ऐसा कष्ट उठाने से जो मृत्यु की सीमा तक न पहुँचे अभिशाप (लानत) अनिवार्य नहीं ठहरता और न ही ख़ुदा की ओर (आध्यात्मिक तौर पर) उठाए जाने से वंचित हो जाता है, क्योंकि तौरात का उद्देश्य यह है कि सलीब ख़ुदा की ओर से अपराधियों को मृत्यु दण्ड देने का

साधन है। अत: जो व्यक्ति सलीब पर मर गया वह आपराधिक मृत्यु को पहुँचा जो कि अभिशप्त मृत्यु है, परन्तु मसीह सलीब पर नहीं मरे और उसको ख़ुदा ने सलीब की मृत्यु से बचा लिया अपितु जैसा उसने कहा था कि मेरी दशा (हज़रत) यूनुस (अलैहिस्सलाम) के समान है, वैसा ही हुआ, न यूनुस की मृत्यु मछली के पेट में हुई और न यसू की सलीब पर। उसकी प्रार्थना 'एली एली लिमा सबक़तानी' (हे मेरे परमेश्वर तूने मुझे क्यों छोड़ दिया) सुनी गई। यदि वह मर जाता तो पिलातूस पर भी अवश्य आपदा आती, क्योंकि एक फ़रिश्ते ने पिलातूस की पत्नी को यह सूचना दी थी कि यदि यसू की मृत्यु हो गई तो याद रखना कि तुम पर विपत्ति आएगी परन्तु पिलातूस पर कोई विपत्ति नहीं आई। यसू के जीवित रहने की यह भी एक निशानी है कि उसकी हड्डियाँ सलीब के समय नहीं तोड़ी गईं और सलीब से नीचे उतारने के पश्चात उसके शरीर को छेदने से रक्त भी निकला, तथा उसने अपने शिष्यों को सलीब के पश्चात अपने घाव भी दिखाए। अब स्पष्ट है कि नया जीवन प्राप्त होने के साथ घावों का होना असम्भव था। अत: इससे प्रमाणित हुआ कि यसू की मृत्यु सलीब पर नहीं हुई। इसलिए वह अभिशप्त भी नहीं हुआ और निस्संदेह उसने पवित्र मृत्यु पाई और ख़ुदा के समस्त अवतारों की भांति मृत्यु के उपरान्त वह भी ख़ुदा की ओर उठाया गया, तथा इस वचन اِنِّیۡ مُتَوَفِّیۡکَ وَرَافِعُکَ اِلَیَّ के अनुसार वह ख़ुदा की ओर उठाया गया। यदि वह सलीब पर मरता तो वह स्वयं अपने कथन में झूठा सिद्ध होता क्योंकि इस स्थिति में 'यूनुस' के साथ उसकी कोई समानता न होती।

अत: यही विवाद ईसा मसीह के सम्बन्ध में यहूदियों और ईसाइयों

के मध्य चला आ रहा था जिसका निर्णय अन्ततः क़ुर्आन मजीद ने किया परन्तु अभी तक ईसाई कहते हैं कि क़ुर्आन के उतरने की क्या आवश्यकता थी। हे अज्ञानियो और हृदय के नेत्रहीनो! क़ुर्आन सम्पूर्ण एकेश्वरवाद लाया। क़ुर्आन ने तर्क और प्रमाण को मिला कर दिखाया। क़ुर्आन ने एकेश्वरवाद को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया। क़ुर्आन ने एकेश्वरवाद और ख़ुदा के गुणों के सम्बन्ध में प्रमाण प्रस्तुत किए और ख़ुदा के अस्तित्व का प्रमाण बुद्धिसंगत तर्कों तथा प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा दिया। इसी प्रकार कश्फ़ के परिप्रेक्ष्य द्वारा प्रमाण प्रस्तुत किए और वह धर्म जो पहले किंवदंतियों और कहानियों के रूप में चला आ रहा था उसे क्रियात्मक रूप में प्रस्तुत किया, और प्रत्येक आस्था की नीति को प्रस्तुत किया (अर्थात प्रत्येक आस्था को उसके वास्तविक उद्देश्य के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया)। इसी प्रकार धार्मिक ज्ञान और मर्म की कड़ी जो अधूरी थी उसको पूर्णता तक पहुँचाया और यसू की गर्दन से अभिशाप का बोझ उतारा और उसके प्रतिष्ठित और सच्चा नबी होने का साक्ष्य प्रस्तुत किया। अतः क्या इतना लाभ पहुँचाने के पश्चात अभी क़ुर्आन मजीद की आवश्यकता सिद्ध न हुई?

यह स्मरण रहे कि क़ुर्आन ने बड़ी स्पष्टता के साथ इस आवश्यकता को सिद्ध किया है। क़ुर्आन स्पष्ट रूप से कहता है

اِعْلَمُوْٓا اَنَّ اللّٰهَ يُحْيِ الْاَرْضَ بَعْدَ مَوْتِهَا -[1]

अर्थात इस बात को जान लो कि पृथ्वी निष्प्राण हो गई थी और अब ख़ुदा नवीन रूप में उसे जीवित करने लगा है। इतिहास साक्षी है कि जिस युग में क़ुर्आन उतारा जा रहा था उस समय प्रत्येक जाति ने

1 अल-हदीद : 18

अपना आचरण बिगाड़ा हुआ था। 'मीज़ान-उल-हक़' के लेखक पादरी फण्डल ने यद्यपि उनकी रोम-रोम में द्वेष भरा हुआ था, 'मीज़ान-उल-हक़' में स्पष्ट रूप से यह गवाही दी कि "क़ुर्आन के उतारे जाने के युग में यहूदियों और ईसाइयों का आचरण बिगड़ा हुआ था और उनकी दशा बिगड़ती जा रही थी और क़ुर्आन का आना उनके लिए एक चेतावनी थी।" परन्तु इस अज्ञानी ने यद्यपि यह तो स्वीकार कर लिया कि क़ुर्आन उस युग में आया जब ईसाइयों और यहूदियों का आचरण बहुत बिगड़ चुका था, तथापि यह झूठा बहाना प्रस्तुत कर दिया कि ख़ुदा ने एक झूठा अवतार भेज कर यहूदियों और ईसाइयों को सचेत करना स्वीकार कर लिया। ख़ुदा पर यह एक झूठा आरोप है। क्या हम महाप्रतापी एवं महान प्रतिष्ठा वाले ख़ुदा से यह बुरी आदत सम्बद्ध कर सकते हैं कि उसने लोगों को पथभ्रष्टता और व्यभिचार में लिप्त देख कर यह उपाय सोचा कि ऐसे लोगों के लिए इस से भी अधिक पथभ्रष्टता के साधन उपलब्ध करे और ख़ुदा के करोड़ों भक्तों को अपने हाथ से नष्ट कर दे। क्या आपदाओं और विपत्तियों के बाहुल्य के समय में ख़ुदा के प्रकृति के नियम में उसका यही नियम सिद्ध होता है? खेद है कि यह लोग संसार-प्रेम में ग्रस्त हो कर किस प्रकार सूर्य पर थूक रहे हैं। एक तुच्छ मानव को ख़ुदा भी कहते हैं और फिर अभिशप्त भी, और उस महान प्रतिष्ठा वाले नबी के अस्तित्व का इन्कार कर रहे हैं कि जो ऐसे समय में आया जब कि मानवजाति एक मुर्दे की भांति हो रही थी। फिर भी कहते हैं कि क़ुर्आन की क्या आवश्यकता थी? हे लापरवाहो और हृदय के अंधो! क़ुर्आन जिस पथभ्रष्टता के तूफ़ान के समय में आया है, कोई अवतार ऐसे समय में नहीं आया। उसने संसार को नेत्रहीन देख कर ज्योति प्रदान की,

पथभ्रष्ट देख कर मार्गदर्शन किया और निष्प्राण देख कर जीवन प्रदान किया। तो क्या उसकी आवश्यकता सिद्ध होने में अभी कोई कमी शेष रह गई है? और यदि यह कहो कि एकेश्वरवाद तो पहले भी था, तो क़ुर्आन ने कौन सी नवीन वस्तु प्रदान की? इससे तुम्हारी बुद्धि पर और भी रोना आता है। मैं अभी लिख चुका हूँ कि पूर्व ग्रन्थों में एकेश्वरवाद अधूरे रूप में था, और तुम कदापि सिद्ध नहीं कर सकते कि वह सम्पूर्ण था। इसके अतिरिक्त एकेश्वरवाद लोगों के हृदयों से पूर्णतया लुप्त हो चुका था, क़ुर्आन ने उस एकेश्वरवाद को पुनः स्मरण कराया और उसको पराकाष्ठा तक पहुँचाया। इसी लिए क़ुर्आन का नाम '**ज़िक्र**' है कि वह स्मरण कराने वाला है। तनिक आँखें खोल कर सोचो कि क्या तौरात ने जो कुछ एकेश्वरवाद के सम्बन्ध में उल्लेख किया है वह एक ऐसी नवीन बात थी जिनका पूर्व नबियों को ज्ञान न था। क्या यह सत्य नहीं कि सर्वप्रथम आदम अलैहिस्सलाम को, फिर शीस और नूह अलैहिस्सलाम और इब्राहीम अलैहिस्सलाम और अन्य अवतारों को जो मूसा से पूर्व आए थे एकेश्वरवाद की शिक्षा मिली थी? अतः यह तौरात पर भी आरोप है कि उसने कौन सी नवीन बात प्रस्तुत की। हे विकृत हृदय वाली जाति! ख़ुदा दिन प्रतिदिन नवीन नहीं हो सकता। मूसा अलैहिस्सलाम के युग में भी वही ख़ुदा था जो आदम, शीस, नूह और इब्राहीम, इस्हाक़, याक़ूब और यूसुफ़ के युग में था, तथा तौरात ने एकेश्वरवाद के सम्बन्ध में वही वर्णन किया जो इससे पूर्व अवतार करते आए थे।

अब यदि यह प्रश्न उठे कि तौरात ने उसी प्राचीन एकेश्वरवाद का वर्णन क्यों किया तो इसका उत्तर यही है कि ख़ुदा के अस्तित्व और एकेश्वरवाद का विषय तौरात से प्रारम्भ नहीं हुआ अपितु अनादिकाल

से चला आ रहा है। यह बात सत्य है कि कुछ युगों में इसके पालन का परित्याग करने के कारण लोगों की दृष्टि में अवश्य अपमानित और तिरस्कृत होता रहा है। अतः ख़ुदा के ग्रन्थों तथा ख़ुदा के अवतारों का यह कार्य था कि वे ऐसे युगों में आते रहे हैं कि जब एकेश्वरवाद के विषय पर लोगों का ध्यान कम हो गया और वे भिन्न भिन्न प्रकार के शिर्कों (ख़ुदा के साथ किसी अन्य को भागीदार ठहराना) में ग्रस्त हो गए हों। यही विषय संसार में सहस्रों बार परिष्कृत हुआ और फिर ज़ंग लगने के कारण लोगों की दृष्टि से ओझल हो गया। जब ओझल हो गया तो पुनः ख़ुदा ने अपने किसी भक्त को भेजा ताकि वह उसे फिर से उज्ज्वल कर के दिखाए। इसी प्रकार संसार में कभी अंधकार और कभी प्रकाश का वर्चस्व स्थापित होता रहा, प्रत्येक नबी की पहचान का यह सर्वोत्तम मापदण्ड है कि देखा जाए कि वह किस युग में प्रकट हुआ और उस के द्वारा कितना सुधार सम्पन्न हुआ। आवश्यक है कि सत्याभिलाषी की भांति इसी बात पर विचार करें और द्वेषपूर्ण एवं उपद्रवी लोगों के बेईमानी से भरे कथनों की ओर ध्यान न दें और एक निर्मल दृष्टि द्वारा किसी अवतार की परिस्थितियों को देखें कि उसने प्रकट हो कर उस युग के लोगों को किस अवस्था में पाया तथा उसने उन लोगों की आस्थाओं और आचरण में क्या परिवर्तन करके दिखाया। इस प्रकार यह अवश्य ज्ञात हो जाएगा कि कौन सा अवतार नितान्त आवश्यकता के समय प्रकट हुआ और कौन उस से कम आवश्यकता के समय। अवतार की आवश्यकता पापियों के लिए ठीक वैसी ही होती है जैसी कि चिकित्सक की आवश्यकता रोगियों के लिए और जिस प्रकार रोगियों की अधिकता एक चिकित्सक की मांग करती है उसी

प्रकार पापियों की अधिकता एक सुधारक को।

अब यदि कोई इस नियम को मस्तिष्क में रख कर अरब के इतिहास पर दृष्टि डालें कि आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम के आविर्भाव से पूर्व अरब वासियों की क्या दशा दी और उसके पश्चात क्या हो गई तो निस्सन्देह वह इस अन्तिम युग के अवतार आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम को आध्यात्मिक शक्ति, प्रभाव की प्रबलता एवं उनकी अनुकम्पाओं के लाभ में समस्त नबियों से सर्वोपरि समझेगा और इसी आधार पर वह आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम और क़ुर्आन मजीद की आवश्यकता को अन्य समस्त ग्रन्थों और अवतारों की आवश्यकता से अधिक स्पष्ट रूप से प्रमाणित स्वीकार करेगा। उदाहरणतया यसू ने संसार में आकर संसार की किस आवश्यकता को पूरा किया? और उसका प्रमाण क्या है कि उसने कोई आवश्यकता पूरी की? क्या यहूदियों के आचरण, स्वभाव और ईमान में कोई श्रेष्ठ परिवर्तन किया अथवा अपने शिष्यों को उनकी आत्मशुद्धि में पराकाष्ठा तक पहुँचाया? अपितु इन पवित्र सुधारों में से कुछ भी सिद्ध नहीं और यदि कुछ सिद्ध है तो केवल यही कि लालच और लोभ से भरे हुए कुछ व्यक्ति उसके साथ हो गए और अन्ततः उन्होंने अत्यन्त लज्जाजनक द्रोह एवं कृतघ्नता का प्रदर्शन किया। यदि यसू ने आत्महत्या की तो मैं इससे अधिक कदापि कुछ नहीं स्वीकार करूंगा कि उसने एक ऐसा मूर्खतापूर्ण कार्य किया जिस से उसकी मानवता और बुद्धि पर सदा के लिए कलंक लग गया। ऐसा कार्य जिसको मानव निर्मित कानून की दृष्टि में भी सदैव अपराध की श्रेणी के अन्तर्गत समझा जाता है, किसी बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा घटित हो सकता है? कदापि नहीं। अतः

हम पूछते हैं कि यसू ने क्या सिखाया और क्या प्रदान किया? क्या वह अभिशप्त बलिदान जिसका बुद्धि और न्याय की दृष्टि से कोई परिणाम ज्ञात नहीं होता। स्मरण रहे कि इंजील की शिक्षा में कोई नवीन विशेषता नहीं अपितु यह समस्त शिक्षा तौरात में पाई जाती है और इस का अधिकांश भाग यहूदियों के ग्रन्थ 'तालमूद' में अब तक विद्यमान है और यहूदी विद्वान अभी भी आरोप लगाते हैं कि हमारे पवित्र ग्रन्थों से ये वाक्य चुराए गए हैं। अतः कुछ दिनों पहले एक यहूदी विद्वान की पुस्तक जो मेरे पास आई है उसमें उसने इसी तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए कई पृष्ठ लिखे हैं और अत्यन्त ठोस रूप में प्रमाण प्रस्तुत किए हैं कि यह वाक्य कहां कहां से चुराए गए। मैंने यह पुस्तकें केवल मियां सिराजुद्दीन के लिए मंगवाई थीं, परन्तु उनका दुर्भाग्य है कि वे इन्हें देखने से पूर्व ही चले गए। ईसाई अन्वेषक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि वास्तव में इंजील यहूदियों के ग्रन्थों के उन विषयों का सार है जो हज़रत मसीह को पसंद आईं परन्तु अन्त में यह कहते हैं कि मसीह के संसार में आने का उद्देश्य यह नहीं था कि कोई नवीन शिक्षा लाए अपितु वास्तविक उद्देश्य तो अपने अस्तित्व का बलिदान देना था अर्थात वही अभिशप्त बलिदान जिसके बारम्बार वर्णन से मैं इस पुस्तक को पवित्र रखना चाहता हूँ। तात्पर्य यह कि ईसाइयों को यह भ्रम लगा हुआ है कि शरीअत (धर्म-विधान) तौरात तक पूर्ण हो चुकी है। अतः यसू कोई शरीअत लेकर नहीं आया अपितु मोक्ष का साधन लेकर आया और क़ुर्आन ने अकारण पुनः ऐसी शरीअत की नींव रख दी जो पहले से पूर्ण हो चुकी थी। यही भय ईसाइयों के ईमान को खा गया है परन्तु स्मरण रहे कि यह बात कदापि सत्य नहीं है अपितु वास्तविकता यह है

कि चूंकि मनुष्य भूल एवं दोष का मिश्रण है और मानवजाति में ख़ुदा के निर्देश क्रियात्मक रूप में सदैव स्थापित नहीं रह सकते, इसलिए सदा नए याद दिलाने वाले और शक्ति देने वाले की आवश्यकता पड़ती है परन्तु क़ुर्आन मजीद केवल इन्हीं दो आवश्यकताओं के कारण नहीं उतरा। वास्तव में वह पूर्व शिक्षाओं का परिशिष्ट और पूर्णकर्त्ता है। उदाहरणतया तौरात में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार बदला लेने पर अधिक बल दिया गया है और इंजील में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार क्षमा और सहनशीलता पर बल दिया गया है परन्तु क़ुर्आन इन दोनों परिस्थितियों में अवसर की आवश्यकतानुसार आचरण करने की शिक्षा देता है। इसी प्रकार तौरात प्रत्येक विषय में अतिक्रमण की ओर गई है और इंजील नितान्त कमी की ओर, परन्तु क़ुर्आन मजीद मध्य मार्ग अपनाने तथा अवसर एवं परिस्थिति के अनुसार आचरण करने की शिक्षा देता है। यद्यपि तीनों शिक्षाओं का विषय एक ही है तथापि किसी ने किसी एक पक्ष पर सर्वाधिक बल दिया तथा किसी ने किसी अन्य पक्ष पर और किसी ने मानव स्वभाव एवं प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए मध्यमार्ग अपनाया जो कि क़ुर्आन की शिक्षा का मार्ग है और क्योंकि अवसर तथा परिस्थिति को सम्मुख रखना ही नीतिगत है। अत: हिकमत केवल क़ुर्आन मजीद ने ही सिखाई है, तौरात एक व्यर्थ अतिवाद की ओर खींच रही है।[1]* और इंजील एक व्यर्थ क्षमा पर बल दे रही है परन्तु क़ुर्आन मजीद अवसर एवं स्थिति को पहचानने की शिक्षा देता है। अत: जिस प्रकार रक्त स्तन में आकर दूध बन जाता है, इसी प्रकार तौरात और इंजील के निर्देश क़ुर्आन में आकर हिकमत (बुद्धिसंगत)

* यह कठोरता तथा कोमलता अपने अपने युग और जाति की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार उचित शिक्षा थी परन्तु वास्तविक शिक्षा नहीं थी जो छोड़ देने के योग्य न हो। इसी से।

बन गए हैं। यदि क़ुर्आन मजीद न आया होता तो तौरात और इंजील उस नेत्रहीन के तीर की भांति होती जो कभी एक आध बार निशाने पर लग गया और सौ बार चूक गया। सारांश यह कि शरीअत कहानियों के रूप में तौरात से आई, उपमा के रूप में इंजील से प्रकट हुई और हिकमत (बुद्धिसंगत) की शैली में क़ुर्आन मजीद द्वारा सत्य एवं वास्तविकता के अभिलाषियों को प्राप्त हुई।

अतः तौरात और इंजील क़ुर्आन का क्या मुकाबला करेंगी। यदि केवल क़ुर्आन मजीद की प्रथम सूरः के साथ ही मुकाबला करना चाहें अर्थात सूरः फ़ातिहा के साथ जो केवल सात आयतों पर आधारित है, और जिस उत्तम क्रम और सुदृढ़ व्यवस्था एवं स्वाभाविक अनुशासन से इस सूरः में सैकड़ों तथ्यों, धार्मिक ज्ञान तत्वों एवं आध्यात्मिक तर्कों का वर्णन है, उनको मूसा की किताब या यसू की इंजील के कुछ पृष्ठों से निकालना चाहें तो चाहे जीवन भर प्रयास करें तब भी यह प्रयास निष्फल होगा। यह बात व्यर्थ बड़बोलापन नहीं अपितु सत्य है और वास्तविक बात यही है कि तौरात और इंजील को तार्किक विद्याओं में सूरः फ़ातिहा के साथ भी मुकाबला करने की शक्ति नहीं। हम क्या करें और किस प्रकार निर्णय हो। पादरी सज्जन हमारी कोई बात भी नहीं मानते। यदि वे अपनी तौरात अथवा इंजील को धार्मिक तत्व ज्ञान एवं तथ्यों के वर्णन में और ईशवाणी के गुण प्रकट करने में पूर्ण समझते हैं तो हम **पाँच सौ रुपये** पुरस्कार के रूप में उनको नक़द देने के लिए तैयार हैं। यदि वे अपने समस्त मोटे-मोटे ग्रन्थों में से जो सत्तर के लगभग होंगे वे सच्चाइयां धार्मिक ज्ञान जो सुनियोजित, बुद्धिसंगत आध्यात्म ज्ञान के रत्न एवं ईशवाणी के गुण दिखा सकें जो सूरः फ़ातिहा में से हम प्रस्तुत

करें, और यदि यह राशि कम हो तो जितना हमारे लिए सम्भव होगा हम उनके अनुरोध पर उसमें वृद्धि कर देंगे। हम स्पष्ट निर्णय के लिए प्रथम सूर: फ़ातिहा की एक व्याख्या तैयार करके प्रकाशित करके प्रस्तुत करेंगे और उसमें उन समस्त तथ्यों और आध्यात्म ज्ञानों और ईशवाणी के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे जिनका सूर: फ़ातिहा में उल्लेख है। और पादरी सज्जनों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे तौरात और इंजील और अपने समस्त ग्रन्थों में से सूर: फ़ातिहा के मुकाबले पर तथ्यों आध्यात्म ज्ञानों एवं ईशवाणी के गुण अर्थात विलक्षण एवं अदभुत चमत्कार जिनका मानव कलाम में पाया जाना असम्भव है, प्रस्तुत करके दिखाएं। यदि वे ऐसा मुकाबला करें और तीन न्यायकर्ता जो अन्य जातियों के कह दें कि वे सूक्ष्म तथ्य, आध्यात्म ज्ञान और ईशवाणी के गुण जो सूर: फ़ातिहा से सिद्ध हैं, वे उनकी प्रस्तुत की गई इबारतों में भी सिद्ध हैं तो हम पाँच सौ रुपये जो पहले से उनके लिए उनके भरोसे वाले स्थान पर जमा कराए जाएंगे दे देंगे।

अब क्या किसी पादरी का साहस है कि जो ऐसा मुकाबला करे? ख़ुदा की वाणी ख़ुदा की शक्तियों से सिद्ध होती है। उदाहरणतया आकाश में सहस्त्रों नक्षत्र हैं। यदि कोई मूर्ख कुछ नक्षत्रों की ओर संकेत करके कह दे कि इनकी क्या आवश्यकता है, इसलिए ये ख़ुदा की ओर से नहीं हैं? अथवा कुछ पौधों, पत्थरों या जन्तुओं का नाम ले कर कह दे कि ये ख़ुदा की ओर से नहीं तो इस बात को एक पागल या मूर्ख के अतिरिक्त और कौन स्वीकार कर सकता है।

यह बात स्मरणीय है कि क़ुर्आन सम्पूर्ण गुणों का संग्रहीता है जिन की मनुष्य को अपना अस्तित्व पूर्ण करने के लिए आवश्यकता है।

तौरात की क़ुर्आन के साथ तुलना करना ऐसा ही है जैसे एक यात्री निवास था, जो तीव्र आंधियों और भूकम्प के कारण ध्वस्त हो गया और उस यात्रीनिवास के स्थान पर ईंटों का एक ढेर लग गया और शौचालय की ईंटें रसोई में और रसोई की ईंटें शौचालय में गिर पड़ीं और समस्त भवन उथल-पुथल हो गया। अतः उस यात्रीनिवास के स्वामी को यात्रियों की दशा पर दया आई और उसने तुरन्त उस यात्रीनिवास के स्थान पर एक ऐसा उत्तम और आरामदायक यात्री निवास का निर्माण किया जो उस पहले यात्री निवास से कहीं उत्तम था और यात्रियों के लिए उसमें अत्यन्त आरामदायक आवास योजनाबद्ध ढंग से विद्यमान थे, तथा किसी भी आवश्यकता के लिए आवास की कमी नहीं थी। और स्वामी ने इस नव-निर्मित यात्री निवास के निर्माण में कुछ तो वही पहले यात्री निवास की ईंटें प्रयोग में लाईं और कुछ अधिक ईंटें और लकड़ी आदि सामग्री उपलब्ध कराई जो भवन का निर्माण पूर्ण करने के लिए पर्याप्त हो सकती थी। अतः क़ुर्आन मजीद वही दूसरा यात्री निवास है जिसकी आँखें हों, देखे!!

इस स्थान पर यह आरोप भी दूर करने योग्य है कि जिस रूप में वास्तविक और सम्पूर्ण शिक्षा यही है जिसमें अवसर एवं स्थिति के अनुसार और प्रत्येक तत्व का पूर्णता के साथ उल्लेख किया जाए तो क्या कारण है कि तौरात और इंजील इन दोनों विशेषताओं से रहित हैं तथा क़ुर्आन ने इन दोनों बातों को पूर्णता तक पहुँचाया तो इसका उत्तर यही है कि यह तौरात और इंजील का दोष नहीं है अपितु जातियों की क्षमताओं का दोष है। यहूदी लोग जिन से हज़रत मूसा का प्रथम सामना हुआ, वे चार शताब्दियों तक फ़िरऔन की दासता में रहे थे और एक लम्बे समय

तक अत्याचार सहन करके न्याय की वास्तविकता से अनभिज्ञ हो गए थे। यह एक स्वाभाविक नियम है कि यदि समय का राजा जो सभ्यता के प्रशिक्षण देने वाला तथा शिक्षक के तौर पर होता है, न्यायवान हो तो प्रजा के हृदय पर न्याय का प्रभाव पड़ता है और स्वाभाविक रूप से उनका भी न्याय के गुण की ओर झुकाव हो जाता है और उनमें सभ्यता और शालीनता उत्पन्न होने के कारण न्यायप्रियता के गुण अपनी झलक दिखाते हैं परन्तु यदि राजा अत्याचारी हो तो प्रजा भी उससे अत्याचार और निर्दयता की शिक्षा ग्रहण करती है और उनके अधिकांश लोग न्याय के गुण से वंचित होते हैं। अत: यही दशा बनी-इस्राईल की हुई कि वे लोग एक दीर्घ अवधि तक फ़िरऔन जैसे अत्याचारी शासक की प्रजा बन कर और नाना प्रकार के अत्याचार सहन करके न्याय की स्थिति से पूर्णता विमुख हो गए। अत: हज़रत मूसा का कर्त्तव्य यह था कि सर्वप्रथम उन को न्याय की शिक्षा दें। इसलिए तौरात में न्याय की रक्षा के लिए अत्यन्त प्रबलता के साथ आयतें पाई जाती हैं। हां दया के विषय की आयतें भी तौरात में पाई जाती हैं, परन्तु यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो ऐसी आयतें भी न्याय की सीमाओं की रक्षा के लिए और अनुचित आवेगों और अनुचित द्वेषों से रोकने के लिए वर्णन की गई हैं। और प्रत्येक स्थान पर मूल उद्देश्य न्याय के सिद्धान्तों और न्याय की रक्षा है परन्तु इंजील के अध्ययन से यह उद्देश्य प्रतीत नहीं होता अपितु इसके विपरीत इंजील में क्षमाशीलता और प्रतिशोध के परित्याग पर अधिक बल दिया गया है। जब हम इंजील का गहन और गम्भीर अध्ययन करते हैं तो इसके शब्दों से स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि उस ग्रन्थ का रचयिता अपने सम्बोध्य लोगों के प्रति यह विश्वास

रखता है कि वे परस्पर प्रेम, सहनशीलता और प्रतिशोध की भावना का परित्याग करने की शक्ति से सर्वथा वंचित और अनभिज्ञ हैं। अत: वह इस बात का इच्छुक है कि उनके हृदय ऐसे हो जाएं कि वे प्रतिशोध लेने के लोलुप न हों तथा संयम, सहनशीलता और क्षमाशीलता को अपना स्वभाव बना लें। इस का यही कारण है कि हज़रत ईसा अलैहिस्सलाम के समय में यहूदियों की नैतिक अवस्था में अत्यन्त विकार उत्पन्न हो गया था और वे एक दूसरे पर दोषारोपण करने और परस्पर दुर्भावना रखने में अपनी चरमसीमा तक पहुँच गए थे और इस बहाने से कि हम न्याय के समर्थक हैं, दया और क्षमाशीलता के गुण उनमें पूर्णतया लुप्त हो चुके थे। अत: इंजील के उपदेश उनको ऐसे कानून के तौर पर एक विशेष युग अथवा एक विशेष जाति के लिए सुनाए गए थे, परन्तु यह निश्चित कानून का चित्रण न था। इसलिए क़ुर्आन ने आकर इनको दूर कर दिया।

जिस समय हम क़ुर्आन का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं और निर्मल हृदय से उसके मूल विषय की गहराई तक चले जाते हैं तो हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि क़ुर्आन ने न तो तौरात की भांति प्रतिशोध और कठोरता पर इतना बल दिया जैसा कि तौरात के युद्धों और प्रतिशोध के सिद्धान्त से सिद्ध होता है, तथा न ही इंजील की भांति तुरन्त क्षमा और सहनशीलता की शिक्षा पर गिर पड़ा है, अपितु वह तो बार-बार उचित कार्य करने और अनुचित कार्य से रुकने का आदेश देता है अर्थात यह आदेश देता है कि जो कार्य बुद्धि और औचित्य की दृष्टि से उत्तम और अवसर के अनुसार हो उस को करो और जो बुद्धि और औचित्य की दृष्टि से अनुचित हो और वह वर्जित कार्यों में से हो तो उस से दूर हो

जाओ।

अत: क़ुर्आन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वह अपने नियमों सीमाओं, निर्देशों को ज्ञान के रूप में हमारे हृदयों में स्थापित करना चाहता है, क्योंकि वह व्यक्तिगत आदेश और निषेध के पिंजरे में कैद नहीं देखना चाहता अपितु अपनी पवित्र शरीअत को सम्पूर्ण सिद्धान्तों के रूप में वर्णन कर देता है। उदाहरणतया वह एक पूर्ण वचन के रूप में आदेश देता है कि तुम उचित कार्य करो और वर्जित कार्य से रुक जाओ। अत: ये दो शब्द 'मा'रूफ़' और 'मुन्किर' (आदेश और निषेध) ऐसे पूर्ण शब्द हैं जो शरीअत के नियमों को ज्ञान के रूप में ले आते हैं और इस शिक्षा से प्रत्येक अवसर पर वह विचार करना पड़ता है कि वास्तविक पुण्य क्या है? उदाहरणतया इस समय अमुक व्यक्ति ने हमारे साथ अन्याय किया है तो क्या उसको दण्ड देना उचित है या क्षमा करना। इसी प्रकार एक याचक जो हम से हज़ार रुपये इस उद्देश्य से मांगता है कि वह उस राशि से अपने पुत्र का विवाह धूमधाम से करे, और आतिशबाज़ी, गाने वाली औरतें और दूसरे वाद्यों के साथ अपने परिवार की परम्पराओं के अनुसार इस प्रथा को पूर्ण करे तो यद्यपि हम उसे एक हज़ार रुपये दे सकते हैं परन्तु हमें उचित कार्य करने के आदेश और अनुचित कार्य करने के निषेध के सिद्धान्त के अनुसार यह विचार कर लेना चाहिए कि ऐसी उदारता से हम किस व्यक्ति की सहायता करते हैं। अभिप्राय यह कि इसी प्रकार क़ुर्आन ने हमारी धार्मिक और भौतिक भलाई के लिए हमारे प्रत्येक शुभ कार्य को अवसर और परिस्थिति की सीमा में बांध दिया है।

अब मैं मियां सिराजुद्दीन साहब के द्वितीय प्रश्न का पूर्ण उत्तर दे चुका

हूँ और मैं लिख चुका हूँ कि इस्लाम ने एकेश्वरवाद को स्वीकार कराने के लिए यहूदियों के साथ युद्ध नहीं किए अपितु इस्लाम के विरोधी स्वयं अपनी शरारतों के कारण युद्ध के प्रेरक बने। कुछ लोगों ने मुसलमानों की हत्या के लिए स्वयं पहले तलवार उठाई, कुछ ने उनकी सहायता की, कुछ ने इस्लाम के प्रचार को रोकने के लिए व्यर्थ प्रतिरोध किया। अत: इन समस्त कारणों के फलस्वरूप उपद्रवियों का दमन करने, उन्हें दण्ड देने तथा उपद्रव का मुक़ाबला करने के लिए अल्लाह तआला ने उन्हीं उपद्रवियों से युद्ध करने का आदेश दिया और यह कहना कि आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम ने तेरह वर्ष तक इस कारण से विरोधियों से युद्ध नहीं किया कि उस समय तक उनको अधिक लोगों का समूह प्राप्त नहीं हुआ था, मात्र एक अन्यायपूर्ण और झूठा विचार है। यदि यह परिस्थिति होती कि आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम के विरोधी तेरह वर्ष तक उन अत्याचारों तथा हिंसाओं से दूर रहते जो मक्का में उन्होंने किए और फिर स्वयं योजना बना कर यह सुझाव न देते कि आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम का वध कर देना चाहिए अथवा देश से निष्कासित कर देना चाहिए, और आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम स्वयं ही विरोधियों के आक्रमण से पूर्व ही मदीने की ओर प्रस्थान कर जाते तो ऐसी दुर्भावनाओं का कोई महत्व भी होता परन्तु यह वास्तविकता तो हमारे विरोधी भी जानते हैं कि तेरह वर्ष की अवधि में हमारे नबी सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम ने शत्रुओं के प्रत्येक अत्याचार पर संयम बनाए रखा और अपने साथियों को कड़ा निर्देश दिया था कि अत्याचार का मुक़ाबला न किया जाए। अत: विरोधियों ने बहुत सी हत्याएं भी कीं और असहाय मुसलमानों

को प्रताड़ित करने और भीषण घाव पहुँचाने की घटनाओं की तो कोई गिनती न रही। अन्ततः आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि व सल्लम की हत्या करने के लिए आक्रमण किया। अतः ऐसे आक्रमण के समय ख़ुदा ने अपने नबी को शत्रुओं के संकट से सुरक्षित रख कर मदीने में पहुँचा दिया और यह शुभ सूचना दी कि जिन लोगों ने तलवार उठाई वे तलवार द्वारा ही मारे जाएंगे। अतः तनिक बुद्धि और न्याय से विचार करो क्या इस वृत्तान्त से यह परिणाम निकल सकता है कि जब आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम के पास कुछ लोगों का समुदाय इकट्ठा हो गया तब आपके युद्ध का निश्चय जो पहले से आपके हृदय में गुप्त रूप से विद्यमान था प्रकट हुआ? खेद! सहस्त्र खेद धार्मिक धर्मान्धता या कट्टरता की दृष्टि से ईसाई धर्म के समर्थकों की दशा कहाँ तक पहुँच गई है। यह भी नहीं सोचते कि मदीने में जा कर जब मक्का वालों के पीछा करने के समय बद्र का युद्ध हुआ जो इस्लाम का प्रथम युद्ध था, तो आपके साथ **कितने लोगों** का समुदाय था। उस समय तो कुल तीन सौ तेरह (313) पुरुष मुसलमान थे और उनमें से भी अधिकांश नवयुवक, अनुभवहीन जो बद्र के मैदान में उपस्थित हुए थे। अतः विचार करने का स्थान है कि क्या इतने व्यक्तियों पर भरोसा करके अरब के समस्त वीरों और यहूदियों एवं ईसाइयों तथा लाखों मनुष्यों का दमन करने के लिए युद्ध के मैदान में निकलने का बुद्धि कोई फ़त्वा दे सकती है?!!! इस से भली भांति स्पष्ट है कि उनका निकलना उन योजनाओं और इरादों का परिणाम नहीं था जो मनुष्य शत्रुओं की हत्या करने और अपनी विजय के लिए सोचता है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो कम से कम तीस-चालीस हज़ार की सेना का समुदाय एकत्र कर लेना

आवश्यक था और तत्पश्चात लाखों मनुष्यों का मुकाबला करता। अत: स्पष्ट है कि यह युद्ध विवशता के समय अल्लाह तआला के आदेश से हुआ था, न कि भौतिक साधनों के भरोसे पर।

इस स्थान पर एक और आरोप का निवारण करना भी आवश्यक है और वह यह कि यदि मोक्ष का आधार एकेश्वरवाद और शुभ कर्म हैं जो परमेश्वर के प्रेम और भय के कारण किए जाएं तो यहूदियों को इस्लाम का निमंत्रण क्यों दिया गया। क्या यहूदियों में एक भी ऐसा व्यक्ति शेष न रहा था जो क्रियात्मक रूप में एकेश्वरवाद का पालन करता हो और ख़ुदा की आज्ञाकारिता को अपना परम कर्त्तव्य समझता हो? इसका उत्तर यह है कि हम प्रमाणित कर चुके हैं कि आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम के आविर्भाव के समय अधिकांश यहूदी और ईसाई पापी थे जैसा कि क़ुर्आन मजीद स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध कराता है وَاَكۡثَرُهُمۡ فٰسِقُوۡنَ अत: जब उनमें से अधिकांश लोग पापी थे जिन्होंने एकेश्वरवाद के शिष्टाचार और शुभ कर्मों को क्रियात्मक रूप से परित्याग कर दिया था, अत: ख़ुदा की कृपा ने उनके सुधार हेतु अनादिकाल से चली आ रही अपनी नीति के अनुसार यही अनिवार्य समझा कि उनकी ओर रसूल (अवतार) भेजे। यदि कल्पना भी कर लें कि उन में कोई इक्का दुक्का एकेश्वरवाद का पालन करने वाला और सदात्मा था तो वह ख़ुदा के अवतार की अवमानना करके सदात्मा न रहा जब कि एक लघु पाप मनुष्य के हृदय को मलिन कर देता है तो फिर कैसे समझा जाए कि ख़ुदा के अवतार की अवज्ञा करने वाला और उससे शत्रुता रखने वाला पवित्र हृदयी रह सकता है?

प्रश्न 3 :- क़ुर्आन में मनुष्य और ख़ुदा के साथ प्रेम करने के

सम्बन्ध में तथा ख़ुदा का मनुष्य के साथ प्रेम करने के सम्बन्ध में कौन सी आयते हैं जिन में विशेष प्रेम तथा 'हुब्ब' (प्रेम) की क्रिया प्रयोग की गई हो।

उत्तर :- स्पष्ट हो कि क़ुर्आन की शिक्षा का मूल उद्देश्य यही है कि ख़ुदा जैसा कि एक तथा साझीदार रहित है, उसी प्रकार अपने प्रेम की दृष्टि से उसे एक तथा सांझीदार रहित स्वीकार करो। जिस प्रकार कि कलिमा لَا اِلٰہَ اِلَّا اللّٰہ **ला इलाहा इल्लल्लाह** (अल्लाह के अतिरिक्त कोई उपास्य नहीं) जिसे हर समय दुहराना मुसलमानों की दिनचर्या है इसी की ओर संकेत करता है। क्योंकि اِلٰہ (इलाह) ولاہ (वलाह) से बना है। इस का अर्थ यह है कि ऐसा प्रियतम जिस की उपासना की जाए। यह कलिमा न तौरात ने सिखाया और न इंजील ने। केवल क़ुर्आन ने सिखाया और यह कलिमा इस्लाम से ऐसा सम्बन्ध रखता है जैसे इस्लाम का पदक हो। यही कलिमा पाँच समय मस्जिदों के मीनारों में उच्च स्वर से पढ़ा जाता है जिसे सब ईसाई और हिन्दू पसन्द नहीं करते हैं, जिससे यह विदित होता है कि ख़ुदा को प्रेम के साथ स्मरण करना उनके निकट पाप है। यह इस्लाम की ही विशेषता है कि प्रातः होते ही अज़ान देने वाला اَشۡهَدُ اَنۡ لَا اِلٰہَ اِلَّا اللّٰہ (**अशहदो अल्ला इलाहा इल्लल्लाहो**) अर्थात मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाह के अतिरिक्त हमारा कोई प्रिय और प्रियतम उपास्य नहीं। फिर दोपहर के पश्चात यही आवाज़ इस्लामी मस्जिदों से आती है। फिर '**अस्र**' के समय भी यही आवाज़, मग़रिब के समय भी यही आवाज़ और 'इशा' के समय भी यही आवाज़ गूँजती हुई आकाश की ओर चढ़ जाती है। क्या संसार में किसी अन्य धर्म में भी यह दृश्य दिखाई देता है ?!!

तत्पश्चात 'इस्लाम' शब्द का अर्थ भी प्रेम का सूचक है क्योंकि

अल्लाह तआला के समक्ष सर रख देना और सच्चे दिल से क़ुर्बान होने के लिए तैयार हो जाना, जो कि इस्लाम का अर्थ है, वह क्रियात्मक दशा है जो प्रेम के उद्‌गम से प्रस्फुटित होती है। 'इस्लाम' शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि क़ुर्आन ने केवल मौखिक रूप से प्रेम को सीमित नहीं रखा अपितु क्रियात्मक रूप में भी प्रेम और बलिदान का मार्ग सिखाया है। संसार में अन्य कौन सा धर्म है जिस के प्रवर्तक ने अपने धर्म का नाम इस्लाम रखा है? इस्लाम अत्यन्त प्रिय शब्द है और इसमें सच्चाई, निश्छलता, और प्रेम के अर्थ कूट-कूट कर भरे हुए हैं। अत: **मुबारक** है वह धर्म जिसका नाम इस्लाम है। इसी प्रकार ख़ुदा के प्रेम के विषय में अल्लाह तआल फ़रमाता है وَالَّذِيْنَ اٰمَنُوْٓا اَشَدُّ حُبًّا لِّلّٰهِ[1] अर्थात ईमान वाले वे हैं जो सब से अधिक ख़ुदा से प्रेम रखते हैं। एक अन्य स्थान पर फ़रमाता है : فَاذْكُرُوا اللّٰهَ كَذِكْرِكُمْ اٰبَآءَكُمْ اَوْ اَشَدَّ ذِكْرًا[2] अर्थात ख़ुदा को इस प्रकार याद करो जिस प्रकार तुम अपने बापों को याद करते थे अपितु उससे बढ़ कर तथा बहुत प्रेमपूर्वक याद करो। एक अन्य स्थान पर फ़रमाता है :

قُلْ اِنَّ صَلَاتِيْ وَنُسُكِيْ وَمَحْيَايَ وَمَمَاتِيْ لِلّٰهِ رَبِّ الْعٰلَمِيْنَ[3]

अर्थात उनको जो तेरा अनुसरण करना चाहते हैं यह कह दे कि मेरी नमाज़ और मेरा बलिदान और मेरा मरना और मेरा जीवित रहना सब अल्लाह तआला के लिए है अर्थात जो मेरा अनुसरण करना चाहता है वह भी यह बलिदान दे। एक अन्य स्थान पर पुन: फ़रमाया कि यदि तुम अपने प्राणों ओर अपने मित्रों और अपने बाग़ों और अपने व्यापारों को ख़ुदा और उसके रसूल से अधिक प्रिय वस्तुएं मानते हो तो अलग हो जाओ जब तक ख़ुदा निर्णय करे। इसी प्रकार एक स्थान पर फ़रमाया:

1 अल् बक़र: : 166
2 अल् बक़र: - 201
3 अल्-अनाम : 163

وَ يُطْعِمُوْنَ الطَّعَامَ عَلٰى حُبِّهٖ مِسْكِيْنًا وَّ يَتِيْمًا وَّ اَسِيْرًا - اِنَّمَا نُطْعِمُكُمْ لِوَجْهِ اللّٰهِ لَا نُرِيْدُ مِنْكُمْ جَزَآءً وَّلَا شُكُوْرًا[1]

अर्थात मोमिन वे हैं जो ख़ुदा के प्रेम में असहाय, अनाथ और कैदियों को भोजन कराते हैं और उन्हें कहते हैं कि हम मात्र ख़ुदा के प्रेम और उनके मुख के लिए तुम्हें देते हैं हम तुम से कोई प्रतिफल नहीं चाहते और न ही धन्यवाद के इच्छुक हैं।

सारांश यह कि क़ुर्आन मजीद ऐसी आयतों से भरा हुआ है जिनमें लिखा है कि अपने वचन और कर्म की दृष्टि से ख़ुदा का प्रेम दिखाओ और सब से अधिक ख़ुदा से प्रेम करो। इस प्रश्न का दूसरा अंश फिर क़ुर्आन मजीद में यह कहाँ लिखा है कि ख़ुदा भी मनुष्यों से प्रेम करता है अत: स्पष्ट हो कि क़ुर्आन शरीफ़ में यह आयतें अधिकता से पाई जाती हैं कि ख़ुदा क्षमा मांगने वालों से प्रेम करता है और ख़ुदा शुभ कर्म करने वालों से प्रेम करता है[2] और ख़ुदा संयम धारण करने वालों के साथ प्रेम करता है परन्तु क़ुर्आन मजीद में यह कहीं नहीं है कि जो व्यक्ति कुफ्र, व्यभिचार, अन्याय एवं अत्याचार से प्रेम करता है, ख़ुदा उस से भी प्रेम करता है अपितु इस स्थान पर उस ने 'एहसान' (उपकार) का शब्द प्रयोग किया है। जैसा कि वह फ़रमाता है :

وَمَآ اَرْسَلْنٰكَ اِلَّا رَحْمَةً لِّلْعٰلَمِيْنَ[3]

अर्थात समस्त संसार पर दया करके हम ने तुझे भेजा है और

1 अद्-दहर : 9-10

2 ख़ुदा का प्रेम मनुष्य के प्रेम की भांति नहीं जिसमें यह सम्मिलित है कि विरह से कष्ट और पीड़ा हो अपितु ख़ुदा के प्रेम से तात्पर्य यह है कि वह शुभ कार्य करने वालों के साथ ऐसा व्यवहार करता है जैसा कि एक प्रेमी व्यवहार करता है। इसी से

3 अल्-अंबिया - 108

'आलमीन' शब्द में काफ़िर, बेईमान पापी और दुराचारी भी शामिल हैं और उनके लिए दया का द्वार इस प्रकार से खोला कि वे क़ुर्आन मजीद के निर्देशों का पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। मैं इस बात को भी स्वीकार करता हूँ कि क़ुर्आन मजीद में मनुष्यों के प्रति ख़ुदा प्रेम को इस रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया कि उसने कोई अपना पुत्र दुराचारियों के पापों के बदले में सूली पर चढ़वा दिया और उनका अभिशाप अपने प्रिय पुत्र पर डाल दिया। ख़ुदा के पुत्र पर अभिशाप ऐसा ही है जैसे स्वयं ख़ुदा पर अभिशाप (हम अल्लाह की शरण के इच्छुक हैं) क्योंकि पिता और पुत्र दो नहीं हैं। स्पष्ट है कि अभिशाप और ख़ुदात्व एक साथ एकत्र नहीं हो सकते। फिर यह भी विचार करो कि ख़ुदा ने संसार के दुराचारियों से यह कैसा कि नेक को मारा और बुरे से प्रेम किया। यह ऐसा चरित्र है कि कोई सत्यनिष्ठ जिसका अनुसरण नहीं कर सकता।

इस प्रश्न का तीसरा अंश यह है कि क़ुर्आन मजीद में यह कहाँ लिखा है कि मनुष्य, मनुष्य के साथ प्रेम करे।

इसका उत्तर यह है कि क़ुर्आन ने इस स्थान पर प्रेम के स्थान पर दया और हमदर्दी का शब्द प्रयोग किया है क्योंकि प्रेम की पराकाष्ठा उपासना है, इसलिए प्रेम का शब्द वास्तविक रूप में ख़ुदा के लिए विशिष्ट है। [1]

और मानवजाति के लिए ख़ुदा की वाणी में प्रेम के स्थान पर दया और उपकार का शब्द आया है क्योंकि प्रेम की पराकाष्ठा उपासना की मांग करती है और दया की पराकाष्ठा हमदर्दी की मांग करती है। इस

---

1 प्रेम का शब्द जहाँ कहीं परस्पर मनुष्यों के सम्बन्ध में आया हो वास्तव में उस से अभिप्राय वास्तविक प्रेम नहीं है अपितु इस्लामी शिक्षा अनुसार वास्तविक प्रेम केवल ख़ुदा के लिए विशिष्ट है तथा अन्य प्रकार के प्रेम अवास्तविक और लौकिक रूप में हैं। - इसी से

अन्तर को अन्य जातियों ने नहीं समझा और ख़ुदा का अधिकार दूसरों को दिया। मैं विश्वास नहीं रखता कि यसू का अधिकार दूसरों को दिया। मैं विश्वास नहीं रखता कि यसू के मुख से ऐसा द्वैतवाद सूचक शब्द निकला हो अपितु मेरा यह अनुमान है कि इंजील में ये शब्द बाद में सम्मिलित कर दिए गए हैं और अकारण यसू को बदनाम किया गया। तात्पर्य यह कि ख़ुदा की पवित्र वाणी में मानवजाति के लिए दया का शब्द आया है जैसा कि वह फ़रमाता है : وَتَوَاصَوۡا بِالۡحَقِّ[1] وَتَوَاصَوۡا بِالۡمَرۡحَمَةِ[2] अर्थात मौमिन वे हैं जो सत्य और दया की शिक्षा देते हैं। एक अन्य स्थान पर फ़रमाता है :

اِنَّ اللّٰهَ يَاۡمُرُ بِالۡعَدۡلِ وَالۡاِحۡسَانِ وَاِيۡتَآئِ ذِى الۡقُرۡبٰى[3]

अर्थात ख़ुदा का आदेश यह है कि तुम जनसाधारण के साथ न्याय करो और उस से अधिक यह कि तुम उपकार करो और इस से अधिक यह कि तुम मानवजाति से ऐसी हमदर्दी करो जैसे एक निकट समबन्धी को अपने सम्बन्धी से होती है।

अब सोचना चाहिए कि इस से अधिक संसार में और कौन सी उत्तम शिक्षा होगी जिसमें समस्त मानवजाति के साथ पुण्य करना केवल उपकार करने तक सीमित नहीं रखा अपितु स्वाभाविक जोश का वह पद भी वर्णन कर दिया जिसका नाम **'ईताइज़िल क़ुर्बा'** (अपने निकट सम्बन्धियों के साथ उपकार करो) क्योंकि उपकार करने वाला यद्यपि उपकार करते समय एक पुण्य करता है, तथापि प्रतिफल और बदले का इच्छुक होता है इसीलिए वह कभी उपकार के इन्कारी तथा नेमतों

1 अल्-अस्र : 4
2 अल्-बलद : 18
3 अन्-नहल : 91

के इन्कारी पर क्रोधित हो जाता है। और कभी आवेश में आकर अपना उपकार भी स्मरण कराता है परन्तु स्वाभाविक इच्छा से पुण्य करना जिसको क़ुर्आन ने 'ज़विलक़ुर्बा' के साथ उपमा दी है, वास्तव में पुण्य की उच्चतम श्रेणी है जिसके पश्चात पुण्य का कोई अन्य पद नहीं क्योंकि शिशु के साथ माँ का पुण्य करना और दया करना एक स्वाभाविक क्रिया है और अपने असमर्थ दूध पीते शिशु के किसी धन्यवाद की इच्छुक नहीं।

मानवजाति के प्रति कर्त्तव्य निर्वहन की ये तीन श्रेणियाँ हैं जिनका क़ुर्आन ने वर्णन किया है। अब जब हम तौरात और इंजील को देखते हैं तो हमें ईमानदारी से यह कहना पड़ता है कि ये दोनों ग्रन्थ इस उत्तम श्रेणी की कर्त्तव्य निर्वहन की शिक्षा से रहित हैं। भला हम इन दोनों ग्रन्थों से इस तीसरी श्रेणी की क्या आशा रखें जिनमें पहली और दूसरी श्रेणी का भी पूर्ण रूप से वर्णन नहीं किया गया क्योंकि जिन परिस्थितियों में तौरात केवल यहूदियों के लिए उतरी है और हज़रत मसीह भी केवल बनी इस्राईल की भेड़ों के लिए भेजे गए हैं तो उन को अन्य लोगों से क्या मतलब और सम्बन्ध था कि उन के प्रति न्याय और उपकार के उपदेशों का वर्णन किया जाता। अत: वे समस्त निर्देश बनी-इस्राईल तक ही सीमित रहे और यदि सीमित नहीं थे तो क्यों यसू ने जब एक स्त्री के विलाप और याचना करने की आवाज़ सुनी और उसका विनम्र निवेदन उस तक पहुँचा तो फिर भी उस पर दया न की और यह कहा कि मैं केवल बनी-इस्राईल के लिए भेजा गया हूँ। अत: जब यसू ने स्वयं दूसरों के लिए जिनका बनी-इस्राईल से सम्बन्ध न था, दया और हमदर्दी का कोई क्रियात्मक उदाहरण प्रस्तुत न किया तो कैसे आशा

की जाए कि यसू की शिक्षा में दूसरी जातियों पर दया करने का आदेश है। यसू ने तो स्पष्ट कह दिया कि मैं दूसरी जातियों के लिए भेजा ही नहीं गया। तो अब क्या हम आशा रख सकते हैं कि यसू की शिक्षा में दूसरी जातियों पर दया करने के लिए कुछ निर्देश हैं। नहीं, अपितु यसू की शिक्षा की दिशा केवल यहूदियों की ओर है और यसू स्वयं को इस बात का अधिकृत नहीं समझता कि दूसरी जातियों के सम्बन्ध में कुछ उपदेश वर्णन करे। फिर वह किस प्रकार सामान्य रूप से दया की शिक्षा दे सकता था। यदि इंजील में इस वाक्य के विपरीत कि मेरी शिक्षा और हमदर्दी यहूदियों तक सीमित है, कोई अन्य वाक्य लिखा भी गया हो तो वह निस्सन्देह बाद में किसी समय लिखा गया होगा क्योंकि दो परस्पर विपरीत बातों को इकट्ठा करना वैध नहीं।

इसी प्रकार तौरात के सम्बोध्य भी केवल यहूदी थे और तौरात की शिक्षा का समस्त विस्तार भी यहूदियों तक ही सीमित है परन्तु वह नियम जो सामान्य न्याय, उपकार और हमदर्दी के लिए संसार में आया वह केवल **क़ुर्आन** है। अल्लाह तआला फ़रमाता है :

قُلْ يَاَيُّهَا النَّاسُ اِنِّیْ رَسُوْلُ اللّٰهِ اِلَيْكُمْ جَمِيْعًا[1]

अर्थात तू कह दे, हे लोगो! मैं तुम सभी की ओर रसूल बना कर भेजा गया हूँ। फिर फ़रमाया :

وَمَآ اَرْسَلْنٰكَ اِلَّا رَحْمَةً لِّلْعٰلَمِيْنَ[2]

अर्थात हम ने समस्त संसारों पर दया करने के लिए तुझे भेजा है।

प्रश्न : 4 मसीह ने अपने सम्बन्ध में ये वाक्य कहे : "मेरे पास आओ तुम जो थके हुए हो कि मैं तुम्हें आराम दूँगा" और यह कि "मैं प्रकाश हूँ और मैं मार्ग हूँ, मैं जीवन और सत्य हूँ।" क्या इस्लाम

1 अल्-आराफ़ : 159

2 अल्-अंबिया : 108

के संस्थापक ने ये वाक्य अथवा ऐसे वाक्य किसी स्थान पर अपने सम्बन्ध में कहे हैं ?

उत्तर :- क़ुर्आन मजीद में स्पष्ट रूप से कहा गया है :

قُلْ اِنْ كُنْتُمْ تُحِبُّوْنَ اللّٰهَ فَاتَّبِعُوْنِىْ يُحْبِبْكُمُ اللّٰهُ[1]

अर्थात उन को कह दे कि यदि ख़ुदा से प्रेम रखते हो तो मेरा अनुसरण करो ताकि ख़ुदा भी तुम से प्रेम करे और तुम्हारे पापों को क्षमा करे। यह वचन कि मेरे अनुसरण से मनुष्य ख़ुदा का प्रिय बन जाता है मसीह के पूर्व वाक्यों से श्रेष्ठ है क्योंकि इस से उच्च कोई पद नहीं कि मनुष्य ख़ुदा का प्रिय हो जाए। अतः जिस के मार्ग का अनुसरण मनुष्य को ख़ुदा का प्रिय बना देता है उससे बढ़ कर किसका अधिकार है कि वह स्वयं को प्रकाश की संज्ञा से परिभाषित करे। इसीलिए महाप्रतापी परमेश्वर ने क़ुर्आन मजीद में आँहज़रत सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम का नाम '**नूर**' (प्रकाश) रखा है। जैसा कि वह फ़रमाता है قَدْ جَآءَكُمْ مِّنَ اللّٰهِ نُوْرٌ[2] अर्थात तुम्हारे पास ख़ुदा का प्रकाश आया है। यह वाक्य कि तुम जो थके और शिथिल हो, मेरे पास आ जाओ, मैं तुम्हें आराम दूँगा, कैसा व्यर्थ प्रतीत होता है। यदि आराम से अभिप्राय सांसारिक सुख और निरंकुशता है, तब तो यह वाक्य निस्संदेह ठीक है क्योंकि जब कोई मुसलमान बनता है तो उसे पाँच समय नमाज़ पढ़ना पड़ती है। सूर्योदय से पूर्व प्रातः की नमाज़ के लिए उठना पड़ता है और पानी से चाहे शीत ऋतु में वह कितना ही ठंडा हो वुज़ू करना पड़ता है और फिर पाँच बार मस्जिद की ओर सामूहिक नमाज़ के लिए दौड़ना पड़ता है, तथा जब लगभग रात्रि का एक पहर

---

1 आले-इम्रान : 32

2 अल-माइदः - 16

शेष रह जाए मधुर निद्रा से उठ कर तहज्जुद की नमाज़ पढ़ना पड़ती है, परनारी पर दृष्टि डालने से स्वयं को बचाना पड़ता है, मदिरा एवं प्रत्येक प्रकार के नशे, मादक पदार्थों के सेवन से स्वयं को दूर रखना पड़ता है, ख़ुदा की पकड़ से भय खाते हुए लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है, तथा प्रतिवर्ष निरन्तर तीस या उन्तीस दिन ख़ुदा के आदेशानुसार उपवास रखने पड़ते हैं, और समस्त आर्थिक, शारीरिक एवं प्राण सम्बन्धी उपासनाएं करनी पड़ती हैं। अत: जब एक दुर्भाग्यशाली व्यक्ति जो पहले मुसलमान था, ईसाई हो गया तो साथ ही ये समस्त बोझ अपने सर से उतार लेता है और सोना, खाना, मदिरापान करना और अपने शरीर को सुख देना ही उसका काम होता है और तुरन्त समस्त कठिन कर्मों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है तथा पशुओं की भांति खाने-पीने और अपवित्र ऐश्वर्य के अतिरिक्त कोई अन्य काम उस का नहीं होता। यदि यसू के वाक्य जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है, का यही अर्थ है कि मैं तुम्हें आराम दूँगा तो निस्संदेह हम स्वीकार करते हैं कि वास्तव में ईसाइयों को कुछ दिनों के इस सांसारिक अधम जीवन में अपनी निरंकुशता के कारण बहुत ही आराम है यहां तक कि संसार में उनकी उदाहरण नहीं। वे मक्खी की भांति प्रत्येक वस्तु पर बैठ सकते हैं और वे सुअर की भांति प्रत्येक वस्तु खा सकते हैं। हिन्दू गाय से परहेज़ करते हैं और मुसलमान सुअर से परन्तु अत्यन्त मदिरापान करने वाले दोनों को खा जाते हैं। सत्य है **'ईसाई बाश हर चे ख्वाही बकुन' (ईसाई हो जाओ और जो मन चाहे वह करो)**। सुअर को हराम (वर्जित) ठहराने में तौरात में क्या क्या निर्देश थे, यहाँ तक कि उसको स्पर्श करना भी हराम था और स्पष्ट लिखा था कि

इसको सदा के लिए हराम कर दिया गया है परन्तु उन लोगों ने उस सुअर को भी नहीं छोड़ा जो समस्त अवतारों की दृष्टि में घृणित था। यसू का मदिरापान करना, और माँस सेवन करना तो हम ने स्वीकार कर लिया, परन्तु क्या उसने कभी सुअर भी खाया था? वह तो अपने एक उदाहरण में वर्णन करता है कि 'तुम अपने मोती सुअरों के आगे मत फेंको'। अत: यदि मोतियों से अभिप्राय पवित्र वाक्य हैं तो सुअरों से तात्पर्य मलिन व्यक्ति हैं। इस उपमा में यसू स्पष्ट साक्ष्य देता है कि सुअर मलिन हैं क्योंकि उपमा और उपमेय में समानता अनिवार्य है।

तात्पर्य यह कि ईसाइयों का आराम जो उनहें प्राप्त है वह निरंकुशता एवं वैधता का आराम है, परन्तु आध्यात्मिक सुख जो ख़ुदा के मिलन से प्राप्त होता है उसके विषय में तो ख़ुदा की दुहाई देकर कहता हूँ कि यह जाति उससे सर्वथा वंचित है। इनके नेत्रों पर आवरण पड़े हुए हैं और इनके हृदय निष्प्राण हैं तथा अंधकार में पड़े हुए हैं। ये लोग सच्चे ख़ुदा से सर्वथा अनभिज्ञ हैं और एक निर्बल व्यक्ति को जो उस अस्तित्व से जो अनादिकाल से विद्यमान है के समक्ष कुछ भी नहीं, व्यर्थ में परमेश्वर बना रखा है। इन में बरकतें नहीं, इन में हृदय का प्रकाश नहीं, इनको सच्चे परमेश्वर से प्रेम नहीं अपितु उस सच्चे परमेश्वर का ज्ञान भी नहीं। इन में कोई भी नहीं, हाँ एक भी नहीं जिसमें ईमान के लक्षण पाए जाते हों। यदि ईमान कोई निश्चित बरकत है तो निस्संदेह उसके कुछ लक्षण होने चाहिएं परन्तु कहां है कोई ऐसा ईसाई जिसमें वे लक्षण पाए जाते हों जिनका यसू ने वर्णन किया है? अत: या तो इंजील झूठी है या ईसाई झूठे हैं। देखो क़ुर्आन मजीद ने ईमान वालों के जो लक्षण वर्णन किए हैं वे प्रत्येक युग में पाए गए हैं। क़ुर्आन मजीद फ़रमाता है कि ईमान वाले को इल्हाम

(ईशवाणी) प्राप्त होता है। ईमान वाला परमेश्वर की आवाज़ सुनता है, ईमान वाले की प्रार्थनाएं सब से अधिक स्वीकार होती हैं, ईमान वाले पर परोक्ष की सूचनाएं प्रकट की जाती हैं, ईमान वाले को आसमानी समर्थन प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि क़ुर्आन परमेश्वर की पवित्र वाणी है और क़ुर्आन के वादे परमेश्वर के वादे हैं।

उठो ईसाइयो! यदि कुछ सामर्थ्य है तो **मुझ से मुकाबला करो**। यदि मैं झूठा हूँ तो निस्संदेह मेरा वध कर दो अन्यथा आप लोगों पर ख़ुदा का आरोप सिद्ध होता है और नर्क की अग्नि पर आप लोगों का क़दम है। वस्सलामे अला मनित्तबल हुदा।

लेखक
मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद, क़ादियान
ज़िला गुरदासपुर
22 जून, 1897 ई.